श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

बन्धस्वामित्व नामक

कर्मग्रन्थ [तृतीय भाग]

[मूल, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा अनेक परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी, प्रवर्तक

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर—ब्यावर

2955

प्रकाशकीय

[प्रथम संस्करण]

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैन धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी महाराज स्वयं एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ हैं और उन्हीं के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। गुरुदेवश्री साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं, अनुरागी भी हैं। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवनचरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अब विद्वानों एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन सहित प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान ग्रंथ है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री के निर्देशन में प्रसिद्ध लेखक-संपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देवकुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनि जी एवं विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीमान् मीठालाल जी मोहनलालजी सेठिया, मैसूर एवं श्रीमान् सेठ खेतमल जी रांका, सिकन्द्राबाद के अर्थ सौजन्य से किया जा रहा है। हम सभी विद्वानों, मुनिवरों एवं सहयोगी उदार गृहस्थों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि अतिशीघ्र क्रमशः अन्य भागों में हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे। प्रथम व द्वितीय भाग कुछ समय पूर्व ही पाठकों के हाथों में पहुंच चुके हैं। विद्वानों एवं जिज्ञासु पाठकों ने उनका स्वागत किया है। अब यह तृतीय भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत, मन्त्री—

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

प्रकाशकीय

[द्वितीय संस्करण]

कर्मग्रन्थ का भाग ३, सन् १९७५ में प्रकाशित हुआ था। इन पाँच वर्षों में ही भाग १, २, ३, की समस्त प्रतियाँ समाप्त हो गईं तथा पाठकों की माँग निरन्तर आ रही है। पाठकों की रुचि व पुस्तक की उपयोगिता देखकर समिति ने भाग १, २ का पुनः मुद्रण गत वर्ष किया था। अब भाग ३ का द्वितीय संस्करण पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है।

इस संस्करण में प्रेस सम्बन्धी भूलों का प्रायः संशोधन कर लिया गया है, कहीं-कहीं संशोधन परिवर्धन भी किया है। बढ़ती हुई मँहगाई में यद्यपि पुस्तक की लागत कीमत काफी बढ़ गई है, फिर भी हमने वही पुराना मूल्य ही रखा है।

इस संस्करण के मुद्रण में सम्पूर्ण अर्थ-सहयोग श्रीमान जालमचन्दजी बापना (गोपालगढ़) ने उदारतापूर्वक प्रदान किया है। आप स्वयं भी स्वाध्याय-रसिक और धर्मनिष्ठ हैं। तत्त्वज्ञान में आपकी गहरी पैठ है। आपका सम्पूर्ण परिवार बड़ा धार्मिक और सुसंस्कारी है। आपने संस्था के साहित्य में रुचि लेकर जो अनुदान दिया है, तदर्थ हार्दिक धन्यवाद!

विनीत, मंत्री

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

सम्पादकीय

जैन दर्शन को समझने की कुञ्जी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चय है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा और आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिये जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। जैन साहित्य में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्त्व-जिज्ञासु भी कर्मग्रन्थों को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थों की संस्कृत टीकाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी में कर्मग्रन्थों का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेवश्री मरुधरकेसरीजी महाराज की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली में विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निर्देशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय में आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस संपादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचन-कर्ताओं तथा विशेषतः पं० सुखलालजी के ग्रन्थों का सहयोग प्राप्त हुआ

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजत-मुनिजी एवं श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्य समिति के अधिकारियों का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयतापूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के संपादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन में कहीं त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और, हंस-बुद्धि पाठकों से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एवं प्रमाद-परिहार में सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते हैं। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आ मु ख

जैन दर्शन के संपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैन दर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है कम्मं च जाई मरणस्स मूलं—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटना चक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतंत्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने बन्धन में बाँध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है।

जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कंठस्थ करने पर साधारण तत्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पांच भाग अत्यन्त ही महत्वपूर्ण हैं। इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी पं० सुखलालजी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान में कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्व-जिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधरकेसरीजी म० सा० से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर संत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एवं व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेवश्री का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमें भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक संस्थाओं व कार्यक्रमों का आयोजन। व्यस्त जीवन में आप १०-१२ घंटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि में लीन रहते हैं। गत वर्ष गुरुदेवश्री ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण संकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना को सौंपा गया।

श्री सुरानाजी गुरुदेवश्री के साहित्य एवं विचारों से अतिनिकट सम्पर्क में हैं। गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन में एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय में विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा संपादक बन्धुओं को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम व द्वितीय भाग के पश्चात् यह तृतीय भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

पहले के दो भाग जिज्ञासु पाठकों ने पसन्द किये हैं, उनके तत्त्वज्ञान-वृद्धि में वे सहायक बने हैं, ऐसी सूचनाएँ मिली हैं। आशा है प्रथम व द्वितीय भाग की तरह यह तृतीय भाग भी ज्ञानवृद्धि में अधिक उपयोगी बनेगा।

—सुकन मुनि

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

मार्गणा का लक्षण १५
विभिन्नताओं के कारण १६
लोक वैचित्र्य : जैनदृष्टि २१
मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व के ज्ञान की उपयोगिता २६
ग्रन्थ-परिचय ३०

गाथा १ पृ० १–११

मंगलाचरण और ग्रन्थ के विषय का कथन १
'मार्गणा' की व्याख्या १
मार्गणा और गुणस्थान में अन्तर २
मार्गणाओं के नाम और उनके लक्षण ३
मार्गणाओं के उत्तरभेदों की संख्या और नाम ७
मार्गणाओं में कितने गुणस्थान ६

गाथा २, ३ पृ० ११–१३

संकेत के लिये उपयोगी प्रकृतियों का संग्रह ११

गाथा ४ पृ० १३–१६

सामान्य नरकगति का बन्धस्वामित्व १३

गाथा ५ पृ० १५–२१

रत्नप्रभा आदि नरकत्रय का बन्धस्वामित्व १६
पंकप्रभा आदि नरकत्रय का बन्धस्वामित्व २०

गाथा ६, ७ पृ० २१–२७
महातमःप्रभा नरक का बन्धस्वामित्व २२
पर्याप्त तिर्यंचों का बन्धस्वामित्व २५
गाथा ८ पृ० २७–३०
पर्याप्त तिर्यञ्चों का दूसरे से पाँचवें गुणस्थान तक का बन्ध-स्वामित्व २७
गाथा ९ पृ० ३०–३५
पर्याप्त मनुष्य का बन्धस्वामित्व ३०
अपर्याप्त तिर्यंच, मनुष्य का बन्धस्वामित्व ३४
गाथा १० पृ० ३५–३८
देवगति व कल्पद्विक का बन्धस्वामित्व ३६
भवनपतित्रिक का बन्धस्वामित्व ३७
गाथा ११ पृ० ३८–४२
सनत्कुमार आदि कल्पों का बन्धस्वामित्व ३९
आनत कल्प से नवग्रैवेयक तक का बन्धस्वामित्व ४०
अनुत्तर विमानवासी देवों का बन्धस्वामित्व ४०
एकेन्द्रिय, विकलत्रय तथा पृथ्वी, जल, वनस्पति काय का बन्ध-स्वामित्व ४०
गाथा १२ पृ० ४२–४६
एकेन्द्रिय आदि का सासादन गुणस्थान में बन्धस्वामित्व व मतान्तर ४३
गाथा १३ पृ० ४६–४९
पंचेन्द्रिय व त्रसकाय का बन्धस्वामित्व ४७
गतित्रसों का बन्धस्वामित्व ४७
मन, वचन, औदारिक काययोग का बन्धस्वामित्व ४८
गाथा १४ पृ० ४९–५४
औदारिकमिश्र काययोग का बन्धस्वामित्व ५०

गाथा १५ पृ० ५४-६२

औदारिकमिश्र काययोग का चौथे, तेरहवें गुणस्थान का बन्ध-स्वामित्व ५५
कार्मण काययोग का बन्धस्वामित्व ५८
आहारक काययोग द्विक का बन्धस्वामित्व ६०

गाथा १६ पृ० ६२-६७

वैक्रिय काययोग का बन्धस्वामित्व ६३
वैक्रियमिश्र काययोग का बन्धस्वामित्व ६३
वेदमार्गणा का बन्धस्वामित्व ६५
अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का बन्धस्वामित्व ६५
अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का बन्धस्वामित्व ६५
प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का बन्धस्वामित्व ६६
कषायमार्गणा का सामान्य बन्ध-स्वामित्व ६६

गाथा १७ पृ० ६८-७३

संज्वलन कषायचतुष्क का बन्धस्वामित्व ६८
अविरत का बन्धस्वामित्व ६८
अज्ञानत्रिक का बन्धस्वामित्व ६९
चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन का बन्धस्वामित्व ७१
यथाख्यातचारित्र का बन्धस्वामित्व ७१

गाथा १८ पृ० ७३-७७

मनःपर्याय ज्ञान का बन्धस्वामित्व ७३
सामायिक, छेदोपस्थानीय चारित्र का बन्धस्वामित्व ७४
परिहार विशुद्धि संयम का बन्धस्वामित्व ७४
केवलज्ञान-दर्शन का बन्धस्वामित्व ७४
मति, श्रुत व अवधिद्विक का बन्धस्वामित्व ७५

गाथा १९ पृ० ७७-८१

उपशम सम्यक्त्व का बन्धस्वामित्व ७७

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का बन्धस्वामित्व ७८
क्षायिक सम्यक्त्व का बन्धस्वामित्व ७८
मिथ्यात्वत्रिक, देशचारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र का बन्ध-स्वामित्व ७६
आहारक जीवों का बन्धस्वामित्व ७६

गाथा २० पृ० ८१-८४

उपशम सम्यक्त्व की विशेषता ८२

गाथा २१, २२ पृ० ८४-६५

लेश्यामार्गणा का बन्धस्वामित्व ८४

गाथा २३ पृ० ६५-६६

भव्य, अभव्य, संज्ञी, असंज्ञी मार्गणाओं का बन्धस्वामित्व ६५
अनाहारकमार्गणा का बन्धस्वामित्व ६६

गाथा २४ पृ० ६६-१०१

लेश्याओं में गुणस्थान ६६
ग्रन्थ की समाप्ति का संकेत १०१

परिशिष्ट पृ० १०३-२३६

- मार्गणाओं में उदय-उदीरणा-सत्तास्वामित्व १०५
- मार्गणाओं में बन्ध, उदय, सत्तास्वामित्व विषयक दिगम्बर कर्मसाहित्य का मन्तव्य १२०
- श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के समान-असमान मन्तव्य १५७
- मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व प्रदर्शक यंत्र १६०
- जैन कर्मसाहित्य का संक्षिप्त परिचय १६३
- कर्मग्रन्थ भाग १ से ३ तक की मूल गाथायें २०६
- संक्षिप्त शब्दकोष २२२

□

प्र स्ता व ना

कर्मग्रन्थों में जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान इन तीन प्रकारों (द्वारों) द्वारा संसारी जीवों की विविधताओं, विकासोन्मुखता आदि का क्रमबद्ध शास्त्रीय रूप में विवेचन हुआ है। इन तीनों में से जीवस्थान के द्वारा संसारी जीवों की शारीरिक आकार-प्रकार की विभिन्नता बतलाई जाती है। गुणस्थानों में आत्मा की सघन कर्मावृत दशा से लेकर परम निर्मल विकास की उज्ज्वल एवं सर्वोच्च भूमिका तक विकासोन्मुखी क्रमबद्ध श्रेणियों का कथन है और मार्गणास्थानों में आत्मा की दोनों स्थितियों का, बाह्य (शारीरिक) और आन्तरिक (आत्मिक) भिन्नताओं, विविधताओं का वर्गीकरण करते हुए विवेचन किया गया है। इस दृष्टि से देखें तो मार्गणास्थान मध्य द्वार (देहली)-दीपक न्याय के समान जीवस्थान के शारीरिक—बाह्य और गुणस्थान के आत्मिक—आन्तरिक दोनों प्रकार के कथनों को अपने में गर्भित करता है।

इसके अतिरिक्त मार्गणास्थान की अपनी एक और विशेषता है कि जीवस्थान सिर्फ जीवों के बाह्य प्रकारों, विविधताओं का कथन करता है और गुणस्थान आत्मा के क्रमभावी विकास की क्रमिक अवस्थाओं की सूचना करते हैं अतः उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं है, वे क्रमभावी होते हैं; लेकिन मार्गणास्थान सहभावी हैं। इनका जीवस्थानों के साथ भी सम्बन्ध है और गुणस्थानों के साथ भी। दोनों प्रकार की भिन्नताओं वाले जीवों का किसी न किसी मार्गणास्थान में अवश्य अन्तर्भाव—समावेश हो जाता है।

मार्गणा का लक्षण

संसार में अनन्त जीव हैं और उन जीवों के बाह्य व आन्तरिक जीवन की निर्मिति में अनेक प्रकार की विभिन्नता, विभिन्नता, पृथक्ता का दर्शन होता है। शरीर के आकार-प्रकार, रूप-रंग, इन्द्रिय-रचना, हलन-चलन, गति, विचार, बौद्धिक अल्पाधिकता आदि-आदि अनेक रूपों में एक दूसरे जीव में भिन्नता

दृष्टिगत होती है। यह भिन्नता इतनी अधिक है कि समस्त जीव जगत विभिन्नताओं का एक आश्चर्यजनक संग्रहालय (अजायबघर) प्रतीत होता है।

जीव जगत की विभिन्नतायें इतनी अनन्त हैं कि एक ही जाति के जीवों की भी परस्पर एक दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती है। हम अपनी मनुष्य जाति को ही देख लें। सबके हाथ-पैर आदि अंग-उपांग हैं, लेकिन आकृति समान नहीं है, कोई लम्बा है तो कोई ठिगना, कोई गौर वर्ण है तो कोई कृष्ण वर्ण आदि। यह तो हुई शारीरिक दृष्टि की विभिन्नता, लेकिन बौद्धिक दृष्टि की विभिन्नता का विचार करें तो किसी की बुद्धि मन्द है और कोई कुशाग्र बुद्धि, और इसके बीच भी अनेक प्रकार की तरतमता देखने में आती है। इसी प्रकार की अन्यान्य विभिन्नताएँ हम प्रतिदिन देखते हैं, अनुभव करते हैं। जब एक मनुष्य जाति में भी अनेकताओं की भरमार है तो अन्य पशु, पक्षी, देव, नारक के रूप में विद्यमान जीवों में पहने वाली भिन्नताओं की थाह लेना कैसे सम्भव हो सकता है? फिर भी अध्यात्मविज्ञानी सर्वज्ञों ने इन अनन्त भिन्नताओं का मार्गणा के रूप में वर्गीकरण करते हुए मार्गणा का लक्षण कहा है—

जीवस्थानों और गुणस्थानों में विद्यमान जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों के द्वारा अनुमार्गण किये जाते हैं—खोजे जाते हैं, उनकी गवेषणा, मीमांसा की जाती है, उन्हें मार्गणा कहते हैं।

इस गवेषणा के कार्य को सरल और व्यवस्थित रूप देने के लिए मार्गणा स्थान के चौदह विभाग किये हैं और इन चौदह विभागों के भी अवान्तर विभाग हैं। इनके नाम और अवान्तर भेदों की संख्या, नाम आदि यथास्थान इसी ग्रन्थ में अन्यत्र दिये गये हैं जिनमें समस्त जीवों की बाह्य एवं आन्तरिक जीवन सम्बन्धी अनन्त भिन्नताएँ वर्गीकृत हो जाती हैं।

इस तृतीय कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं के आधार से गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व का कथन किया गया है अर्थात् किस-किस मार्गणा में कितने गुण-स्थान सम्भव हैं और उन मार्गणावर्ती जीवों में सामान्य से तथा गुणस्थानों के विभागानुसार कर्मबन्ध की योग्यताओं का वर्णन किया गया है।

विभिन्नताओं का कारण

अब प्रश्न यह है कि जीवों में विद्यमान विभिन्नताओं, विविधताओं का

कारण क्या है ? इस 'क्या' का समाधान करने के लिए विभिन्न दार्शनिकों, चिन्तकों ने अपने-अपने विचार एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं, जिनका संकेत श्वेताश्वेतरोपनिषद् १/२ के निम्नलिखित श्लोक में देखने को मिलता है—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानियोनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न स्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःख हेतोः ॥

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथिव्यादि भूत और पुरुष—ये विभिन्नता के कारण हैं। जीव स्वयं अपने दुःख-सुख आदि के लिए असमर्थ है, वह पराधीन है। इसी प्रकार से अन्य-अन्य विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं। यदि उन सब विचारों का संकलन किया जाये तो एक महा निबन्ध तैयार हो सकता है। लेकिन यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में कारणों के रूप में निम्नलिखित विचारों के बारे में चर्चा करते हैं—

१ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ यदृच्छा, ५ पौरुष, ६ पुरुष (ईश्वर)।

ये सभी विचार परस्पर एक दूसरे का खंडन एवं अपने द्वारा ही कार्य सिद्धि का मंडन करते हैं। इनका दृष्टिकोण क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है।

कालवाद—यह दर्शन काल को मुख्य मानता है। इस दर्शन का कथन है कि संसार का प्रत्येक कार्य काल के प्रभाव से हो रहा है। काल के बिना स्वभाव, पौरुष आदि कुछ भी नहीं कर सकते हैं। एक व्यक्ति पाप या पुण्य कार्य करता है, किन्तु उसी समय उसका फल नहीं मिलता है। योग्य समय आने पर उसका अच्छा या बुरा (शुभ-अशुभ) फल मिलता है। ग्रीष्म काल में सूर्य तपता है और शीत ऋतु में शीत पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता है किन्तु समय आने पर सब कार्य यथायोग्य प्रकार से होते जाते हैं। यह सब काल की महिमा है। कालवाद का दृष्टिकोण यह है—

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालोहि दुरतिक्रमः ॥[1]

---

१ महाभारत १/२४८

काल ही समस्त भूतों की सृष्टि करता है, संहार करता है। काल के प्रभाव से प्रजा का संकोच-विस्तार होता है। सभी के सो जाने पर भी काल सदैव जाग्रत रहता है। इसीलिए दुरतिक्रम काल ही इस संसार की विचित्रता, विविधता और जीवों के सुख-दुःख आदि का मूल कारण है।

स्वभाववाद—स्वभाववाद का अपना अनूठा ही दृष्टिकोण है। उसके अपने तर्क हैं। वह कहता है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव के प्रभाव से हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते हैं। आम की गुठली में आम होने का स्वभाव है, इसीलिये उससे आम का वृक्ष और फल प्राप्त होता है और नीम की निम्बोली में नीम का वृक्ष होने का स्वभाव है। नीम कड़वा और ईख मीठा क्यों है? तो इसका कारण उन-उनमें विद्यमान स्वभाव है। स्वभाववाद के विचारों के लिये निम्नलिखित उद्धरण उपयोगी है—

> **यः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।**
> **स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥**[1]

कांटों का नुकीलापन, मृग व पक्षियों में भिन्न-भिन्न रंग आदि होना स्वभाव से है। अन्य कोई कारण इस सृष्टि के निर्माण आदि का नहीं दिखता है। सब स्वाभाविक है—निर्हेतुक है, अन्य के प्रयत्न का इसमें सहयोग नहीं है।

नियतिवाद—प्रकृति के अटल नियमों को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना कि जिसका जिस समय में जहाँ जो होना है, वह होता ही है। सूर्य पूर्व से उदित होगा, कमल जल में उत्पन्न होगा, गाय, बैल आदि पशुओं के चार पैर और मनुष्य के दो हाथ, दो पैर होंगे। ऐसा क्यों होता है? तो इसका एकमात्र कारण ऐसा होना नियत है। मंखलि गोशालक इसी नियतिवाद का अनुगामी था। उसका मत था कि प्राणियों के क्लेश आदि के लिये कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं, बिना प्रत्यय, बिना हेतु ही प्राणी सुख-दुःख, क्लेश पाते

---

१ सूत्रकृतांग टीका

है आदि[1]। नियतिवादी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में सूत्रकृतांग टीका १/१/२ में संकेत किया गया है—

प्राप्तव्यो नियति बलाश्रयेण योऽर्थः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥

मनुष्यों को नियति के कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है, वह अवश्य प्राप्त होता है। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, लेकिन जो नहीं होना है, वह नहीं ही होगा और जो होना है, उसे कोई रोक नहीं सकता है। सब जीवों का सब कुछ नियत है और वह अपनी स्थिति के अनुसार होगा।[1]

यदृच्छावाद—जिस विषय में कार्यकारण परम्परा का सामान्य ज्ञान नहीं हो पाता है, उसके सम्बन्ध में यदृच्छा का सहारा लिया जाता है। यदृच्छा यानी अकस्मात ही कार्य-कारण का सम्बन्ध न जुड़ने पर नवीन कार्य की उत्पत्ति हो जाना। यदृच्छा में एक प्रकार की उपेक्षा की भावना झलकती है, उसमें कार्य-कारण भाव आदि पर विचार करने का अवसर नहीं है।

पौरुषवाद—पुरुषार्थ, प्रयत्न आदि इसके दूसरे नाम हैं। पुरुषार्थवाद का अपना दर्शन है। उसका कहना है कि संसार के प्रत्येक कार्य के लिये प्रयत्न होना जरूरी है। बिना पुरुषार्थ के कोई भी कार्य सफल नहीं होता है। संसार में जो कुछ भी उन्नति होती है, वह सब पुरुषार्थ का परिणाम है। यदि पेट में भूख मालूम पड़ती है तो उसकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना पड़ेगा, भूख की शांति विचारों से नहीं हो जायेगी। संसार में जितने भी पदार्थ हैं उनका स्वभाव आदि अपना-अपना है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति पुरुषार्थ के बिना नहीं हो सकती है। इसीलिये कहा है—

कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्द हेतोः।

मुक्ति-सुख की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करो! पुरुषार्थ करो!

उक्त वादों के अलावा सबसे प्रमुख वाद है—पुरुषवाद—ईश्वरवाद। ईश्वरवाद के अतिरिक्त पूर्वोक्त विचारधारायें तो अपने-अपने चिन्तन तक

---

१ मज्झिम निकाय २/३/६ में नियतिवाद का वर्णन किया गया है।

सीमित रहीं और ईश्वरवाद के विशेष प्रभावशाली बन जाने पर एक प्रकार से विलुप्त-सी हो गईं और प्रमुख रूप से ईश्वर को ही इस लोक-वैचित्र्य एवं जीवजगत के सुख-दुःख आदि का कारण माना जाने लगा।

पुरुषवाद—सामान्यतः पुरुष ही इस जगत का कर्ता, हर्ता और विधाता है—यह मत पुरुषवाद कहलाता है। पुरुषवाद में दो विचार गर्भित हैं—एक ब्रह्मवाद और दूसरा ईश्वरकर्तृत्ववाद। ब्रह्मवाद में ब्रह्म ही जगत के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि सभी पदार्थों का उपादान कारण है और ईश्वरवाद में ईश्वर स्वयंसिद्ध जड़-चेतन पदार्थों के परस्पर संयोजन में निमित्त बनता है। उपादान कारण और निमित्त कारण के द्वारा ब्रह्म और ईश्वर यह दो भेद पुरुषवाद के हो जाते हैं।

ब्रह्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे मकड़ी जाले के लिये, वटवृक्ष जटाओं के लिये कारण होता है, उसी तरह पुरुष समस्त जगत के प्राणियों की सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कारण है।[1] जो हुआ है, जो होगा, जो मोक्ष का स्वामी है, आहार से वृद्धि को प्राप्त होता है, गतिमान है, स्थिर है, दूर है, निकट है, चेतन और अचेतन सब में व्याप्त है और सबके बाह्य है, वह सब ब्रह्म ही है। इसलिये इसमें नानात्व नहीं है, लेकिन जो कुछ भी दिखता है वह ब्रह्म का प्रपंच दिखता है और ब्रह्म को कोई नहीं देखता।[2]

---

१ ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतु सर्व जन्मिनाम्॥

—उपनिषद्

२ (क) पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

—ऋग्वेद पुरुषसूक्त

(ख) यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदन्तिके।
यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

—ईशावास्योपनिषद्

(ग) सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कंचन॥ —छान्दोग्य उ० ३।१४

ईश्वरवाद में ईश्वर को जगत में उत्पन्न होने वाले पदार्थों, जीवों को सुख-दुःख देने आदि के प्रति निमित्त माना है। इस विचार की पुष्टि के लिये वह कहता है कि स्थावर और जंगम (जड़-चेतन) रूप विश्व का कोई पुरुष-विशेष कर्ता है। क्योंकि पृथ्वी, वृक्ष आदि पदार्थ कार्य हैं और इनके कार्य होने से किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा निर्मित हैं, जैसे कि घट आदि पदार्थ। पृथ्वी आदि भी कार्य हैं अतः इनको बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाया हुआ होना चाहिये और इनका जो बुद्धिमान कर्ता है, उसी का नाम ईश्वर है।

सृष्टि के निर्माण की तरह ईश्वर संसार के प्राणियों को सुख-दुःख देने, उन्हें स्वर्ग-नरक आदि प्राप्त कराने में कारण है। संसार के जीव तो दीन, और परतन्त्र हैं; वे तो ईश्वर की आज्ञा एवं प्रेरणा से सुख-दुःख का अनुभव करते हैं—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥[२]

इसी प्रकार अन्यान्य विचारकों ने जगत-वैचित्र्य के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं और उन विचारों का मण्डन कर दूसरों के विचारों का खण्डन किया है। इस खंडन-मंडन का परिणाम यह हुआ कि साधारण जनों में भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई और जो विचार सत्य को समझने-समझाने में सहायक बन सकते थे वे समन्वय के अभाव में सत्य के मूल मर्म को प्राप्त करने में असमर्थ हो गये।

लोक-वैचित्र्य : जैन दृष्टि

लेकिन भगवान महावीर ने लोक-वैचित्र्य के उक्त विचारों के संघर्ष का समाधान किया। यह समाधान दो प्रकार से किया गया। जिन विचारों का समन्वय किया जा सकता था उनका समन्वय करके और जिन विचारों की उपयोगिता ही नहीं थी उनका सयुक्तिक खंडन और विभिन्नता के मूल कारण

....

२ महाभारत वनपर्व

का संकेत करके संसार के सामने उस सत्य को रखा और जीवन-निर्माण के लिये उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करता है।

पूर्व में यह संकेत किया जा चुका है कि लोक में दो प्रकार के पदार्थ हैं—सचेतन और अचेतन। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में वैचित्र्य, वैविध्य परिलक्षित होता है। जहाँ तक अचेतन पदार्थगत विभिन्नताओं एवं आंशिक रूप से सचेतन तत्त्व की विविधताओं का सम्बन्ध है, उनके बारे में जैन दृष्टि का यह मंतव्य है कि काल आदि वादों का समन्वय कारण है। किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण से नहीं हो जाती किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति आवश्यक सभी कारणों के मिलने पर होती है। ऐसा कभी नहीं होता है कि एक ही शक्ति अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। हाँ, यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान कारण हो और दूसरे गौण, किन्तु यह नहीं होता कि कोई अकेला ही कारण स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।

यह कथन सयुक्तिक एवं प्रत्यक्ष है। क्योंकि हम सब संसार में इसी प्रकार का अनुभव करते हैं एवं प्रतीति भी इसी प्रकार की होती है। लेकिन पुरुषवाद—ब्रह्मवाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद—तो लोक के सचेतन या अचेतन पदार्थों की विभिन्नताओं और विविधताओं का किसी भी रूप में—मुख्य या गौण रूप में कारण नहीं बनता है। क्योंकि जिस रूप में ब्रह्म और ईश्वर के स्वरूप को माना गया है, उस रूप में उसकी सिद्धि नहीं होती है और उनके महत्त्व को हानि ही पहुँचती है। लोक के सम्बन्ध में पुरुषवाद की धारणा का पूर्व में यत्किंचित् संकेत किया है, लेकिन उस धारणा की निरर्थकता बतलाने के लिये यहाँ कुछ विशेष विचार करते हैं।

पुरुषवाद का प्रथम रूप ब्रह्मवाद है और उसका यह पक्ष है कि एक ब्रह्म ही सत् है, उसके नाना रूप नहीं हैं, लेकिन जो कुछ भी नानारूपता हमें दिखलाई देती है वह सब प्रपंच है, यानी ब्रह्म का मायारूप है, लेकिन ब्रह्म स्वयं किसी को दिखलाई नहीं देता है और यह प्रपंच मिथ्या रूप है, क्योंकि उसमें मिथ्यारूपता प्रतीत होती है। जो मिथ्यारूप प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, असत् है। जैसे सीप के टुकड़े में चाँदी की मिथ्या प्रतीति होती है। उसी

प्रकार यह दृश्यमान जगत-प्रपंच मिथ्या प्रतीत होता है, इसीलिये यह मिथ्या है। इसका अपर नाम ब्रह्माद्वैतवाद है,।

लेकिन जब ब्रह्मवाद के उक्त मंतव्य को तर्क की कसौटी पर परखते हैं तो वह उपहासनीय-सा प्रतीत होता है। प्रथम तो यह कि यह प्रपंच रूप जगत यदि ब्रह्म की माया है तो यह माया ब्रह्म से भिन्न है, या अभिन्न। भिन्न मानने पर ब्रह्म और माया इन दो पदार्थों का सद्भाव मानना पड़ेगा। उस स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता है कि मात्र एक ब्रह्म ही है, अद्वैत है। यदि माया और ब्रह्म अभिन्न हैं तो इस जागतिक प्रपंच की मायारूपता सिद्ध नहीं होती है। यदि कहा जाये कि माया सत्‌रूप है तो ब्रह्म और माया इन दो पदार्थों का सद्भाव होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है। माया को असत् माना जाये तो तीनों लोकों के पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि ब्रह्मरूप एक ही तत्त्व विभिन्न पदार्थों के परिणमन में उपादान कैसे बन सकता है? जगत के समस्त पदार्थों को माया कह देने मात्र से उनका पृथक-पृथक अस्तित्व व व्यक्तित्व नष्ट नहीं किया जा सकता है। उनका व्यक्तित्व, अस्तित्व अपना-अपना है। एक भोजन करता है तो दूसरे को तृप्ति नहीं हो जाती है। एक जीव का सुख सबका सुख नहीं माना जा सकता है। अत: जगत के अनन्त जड़-चेतन सत् पदार्थों का अपलाप करके केवल एक पुरुष को अनन्त कार्यों के प्रति उपादान मानना काल्पनिक प्रतीत होता है और कल्पना से रमणीय भी मालूम होता है। जगत के पदार्थों में सत् का अन्वय देखकर एक सत् तत्त्व की कल्पना करना और उसे ही वास्तविक मानना प्रतीतिविरुद्ध है।

इस अद्वैतैकान्त की सिद्धि यदि अनुमान आदि प्रमाण से की जाती है तो हेतु और साध्य इन दो के पृथक्-पृथक् होने से अद्वैत की बजाय द्वैत की सिद्धि होती है तथा कारण-कार्य का, पुण्य-पाप का, कर्म के सुख-दुःख फल का, इहलोक-परलोक का, विद्या-अविद्या का, बन्ध-मोक्ष आदि का वास्तविक भेद ही नहीं रहता है। अत: प्रतीतिसिद्ध जगत्व्यवस्था के लिये ब्रह्मवाद का मानना उचित नहीं है।

पुरुषवाद का दूसरा रूप है ईश्वरवाद—ईश्वरकर्तृत्ववाद। इस जगत-व्यापिनी विचित्रता का कर्ता ईश्वर है, यह ईश्वरकर्तृत्ववाद का सारांश है। ईश्वर की महानता बतलाते हुए ईश्वरवादी कहते हैं कि वह अद्वितीय है, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य है और ईश्वर के लिये प्रयुक्त इन विशेषणों का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—

ईश्वर एक है—यानी अद्वितीय है। क्योंकि यदि बहुत से ईश्वरों को संसार का कर्ता माना जायेगा तो एक दूसरे की इच्छा में विरोध होने पर एक वस्तु के अन्य रूप में भी निर्माण होने पर संसार में ऐक्य व क्रम का अभाव हो जायगा।

ईश्वर सर्वव्यापी है—यदि ईश्वर को नियत देशव्यापी माना जाये तो अनियत स्थानों के समस्त पदार्थों की यथारीति से उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

ईश्वर सर्वज्ञ है—यदि ईश्वर को सर्वज्ञ न मानें तो यथायोग्य उपादान कारणों के न जानने पर वह उनके अनुरूप कार्यों की उत्पत्ति न कर सकेगा।

ईश्वर स्वतन्त्र है—क्योंकि वह अपनी इच्छा से ही संपूर्ण प्राणियों को सुख-दुःख का अनुभव कराता है।

ईश्वर नित्य है—नित्य यानी अविनाशी, अनुत्पन्न और स्थिर रूप है। अनित्य मानने पर एक ईश्वर से दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति, दूसरे से तीसरे की, इस प्रकार परम्परा का अन्त नहीं आ सकेगा और वह अपने अस्तित्व के लिये पराश्रित हो जायेगा।

ईश्वर को कर्ता मानने के सम्बन्ध में निम्नलिखित युक्तियों का अवलम्बन लिया जाता है[1]—

१—सृष्टि कार्य है अतः उसके लिये कोई कारण होना चाहिये।

२—सृष्टि के आदि में दो परमाणुओं में सम्बन्ध होने से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, इस आयोजन क्रिया का कोई कर्ता होना चाहिये।

३—सृष्टि का कोई आधार होना चाहिये।

---

१ न्यायकुसुमांजलि

४—कपड़ा बुनने, घड़ा बनाने आदि कार्यों को सृष्टि के पहले किसी ने सिखाया होगा। इसलिये कोई आदि शिक्षक होना चाहिये।

५—कोई श्रुति का बनाने वाला होना चाहिए।

६—वेदवाक्यों का कोई कर्ता होना चाहिये।

७—दो परमाणुओं के सम्बन्ध से द्व्यणुक बनता है, इसका कोई कर्ता होना चाहिये।

ईश्वरकर्तृत्ववादियों की उक्त कल्पनायें स्वयं अपने आप में विचारणीय हैं। क्योंकि सर्वप्रथम यह सोचना होगा कि जगत के निर्माण करने में ईश्वर की प्रवृत्ति अपने लिए होती है अथवा दूसरों के लिए? ईश्वर कृतकृत्य है, उसकी सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति हो चुकी है, अतः वह अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए जगत का निर्माण नहीं कर सकता। यदि ईश्वर दूसरों के लिए सृष्टि की रचना करता है तो उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता है। इस स्थिति में ईश्वर की स्वतन्त्रता में रुकावट आती है और उसे दूसरे की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ता है।

करुणा से बाध्य होकर भी ईश्वर सृष्टि का निर्माण नहीं करता है। उस स्थिति में जगत के संपूर्ण जीवों को सुखी होना चाहिए था। कोई दुखी नहीं हो, यह करुणाशील व्यक्ति ध्यान रखता है।

ईश्वर सर्वगत भी नहीं है। यदि शरीर से सर्वगत माना जाये तो ईश्वर के तीनों लोकों में व्याप्त हो जाने से दूसरे बनने वाले पदार्थों को रहने का अवकाश ही नहीं रहेगा और यदि ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत माना जाये तो वेद का विरोध होता है। क्योंकि वेद में ईश्वर को सर्वगत मानने के बारे में कहा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पात्।[1]

ईश्वर सर्वत्र नेत्रों का, मुख का, हाथों और पैरों का धारक है, यानी वह अपने शरीर के द्वारा सर्वव्यापी है। शरीरव्याप्त मानने पर दूसरा यह भी दोष

---

१ शुक्ल यजुर्वेद संहिता १७।१९

जाता है कि जनसाधारण की तरह उसका शरीर निर्माण अदृष्ट निमित्तक है—जैसे साधारण प्राणियों के शरीर का निर्माण उन-उनके अदृष्ट (भाग्य, पूर्वकृत कर्म) से हुआ है, उसी प्रकार ईश्वर का शरीर भी अदृष्ट के कारण बना है और अशरीरी होने पर दृश्यमान पदार्थों की उससे उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य की उत्पत्ति होती देखी जाती है।

यदि यह कहा जाये कि ईश्वर का जगत रचने का स्वभाव है तो उसे जगत निर्माण के कार्य से कभी विश्राम नहीं मिलेगा और यदि विश्राम लेता है तो उसके स्वभाव को हानि पहुँचती है। यदि कहा जाये कि ईश्वर का जगत रचने का स्वभाव नहीं है तो ईश्वर कभी जगत को नहीं बना सकता है। सृष्टि और संहार यह दो अलग-अलग कार्य हैं और ईश्वर जगत की सृष्टि व संहार दोनों कार्य करता है, तो उसमें दो स्वभाव मानने पड़ेंगे। क्योंकि निर्माण और नाश दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं और एक स्वभाव से ही दोनों कार्य होने पर सृष्टि व संहार एक हो जायेंगे तथा एक स्वभाव रूप कारण से परस्पर विरोधी दो कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि जब जगत में सचेतन और अचेतन पदार्थ अनादिकाल से अपने अस्तित्व एवं स्वरूप से स्वतंत्र सिद्ध हैं तथा ईश्वर ने भी असत् से किसी एक भी सत् को उत्पन्न नहीं किया है और वे सब परस्पर सहकारी होकर प्राप्त सामग्री के अनुसार परिणमन करते रहते हैं, तब सर्वशक्तिमान ईश्वर को मानने की आवश्यकता भी क्या है ? साथ ही जगत के उद्धार के लिए किसी ईश्वर की कल्पना करना तो पदार्थों के निजस्वरूप को ही परतंत्र बना देना है। प्रत्येक प्राणी अपने विवेक और सदाचार से अपनी उन्नति के लिए उत्तरदायी है, न कि अन्य किसी विधाता के प्रति जिम्मेदार है और न उससे प्रेरित होकर ही वह कर्तव्य एवं अकर्तव्य का बोध प्राप्त करता है। अतः जगत-वैचित्र्य के लिये पुरुषवाद निरर्थक है।

पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सचेतन प्राणियों में विद्यमान विषमता के कारण ईश्वर आदि नहीं हैं किन्तु स्वयं जीव अपने कर्मों के विकास व विनाश, उत्थान व पतन के मार्ग पर अग्रसर होता है। इसीलिए जैन दृष्टि से कर्मवाद को जीव जगत की विचित्रता का कारण माना है। यह दृष्टि

कल्पित नहीं किन्तु वास्तविक तथ्यों पर आधारित है। कर्मवाद का मूल प्रयोजन जगत की दृश्यमान विषमता की समस्या को सुलझाना है।

कर्म का सामान्य अभिधेयार्थ क्रिया है, लेकिन जब उसके व्यंजनात्मक अर्थ को ग्रहण करते हैं तो जीव द्वारा होने वाली क्रिया से आत्मशक्ति को आच्छादित करने वाले पौद्गलिक परमाणुओं का संयोग होता है और इस संयोग के द्वारा जीव को विविध अवस्थाओं की प्राप्ति होना कर्म कहलाता है और यही कर्म प्राणिजगत की स्वरूप स्थिति की विभिन्नताओं, विविधताओं, विषमताओं का बीज है। इस बीज के द्वारा जीव नाना प्रकार की आधि, व्याधि, और उपाधियों को प्राप्त करता है—

कम्मुणा उवाही जायइ।[1]

इसी बात को सन्त तुलसीदासजी के शब्दों में कहें—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा,

जो जस करहि सो तस फल चाखा।

प्राणी जैसा करता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है। इसमें किसी प्रकार की सतभिन्नता नहीं है। जनसाधारण में तो कर्म के बारे में यह मान्यता है—करमगति टारी नाहि टरै। भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने तो कर्मसिद्धान्त को अति महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जितने भी आत्मवादी—जैन, सांख्यादि, अनात्मवादी बौद्ध एवं यहाँ तक कि ईश्वरवादी विचारक हैं, सभी ने कर्म की सत्ता और उसके द्वारा जीव को सुख-दुःख आदि की प्राप्ति होना माना है और कर्मविपाक के कारण यह जीव विविध प्रकार की विषमताओं को प्राप्त करता है। जिसने जैसा कर्म का बन्ध किया है, उसके अनुसार वैसी-वैसी उसकी मति और परिणति होती जाती है। पूर्वबद्ध कर्म उदय में आता है और उसी के अनुसार नवीन कर्मबन्ध होता जाता है। यह चक्र अनादि से चल रहा है।

कर्म के आशय को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न दर्शनिकों ने माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार आदि शब्दों का

---

१ आचारांग ३/१

प्रयोग किया और उन सब का फलितार्थ यही निकलता है कि जीव द्वारा की गई प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति ऐसे संस्कारों का निर्माण करती है जिससे यह जीव तत्काल या कालान्तर में सुख-दुःखरूप फल को प्राप्त करता रहता है और वे जीव को शुभ-अशुभ फल प्राप्त कराने के कारण बनते हैं। लेकिन जब यह आत्मा अपनी विशेष शक्ति से समस्त संस्कारों से रहित हो वासनाशून्य हो जाती है तब वह मुक्त कहलाती है और इस मुक्ति के बाद पुनः कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं होते हैं और न अपना फल ही देते हैं।

सचेतन तत्त्व की विचित्रता का समाधान कर्म को माने बिना नहीं हो सकता है। आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार वैसे स्वभाव और परिस्थितियों का निर्माण करती है, जिसका प्रभाव बाह्य सामग्री पर पड़ता है और उनके अनुसार परिणमन होता है। तदनुसार कर्म-फल की प्राप्ति होती है। जब कर्म के परिपाक का समय आता है तब उनके उदय काल में जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री होती है, वैसा ही उसका तीव्र, मन्द, मध्यम फल प्राप्त होता रहता है।[1]

अब प्रश्न यह होता है कि जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध जुड़ा कैसे, जिससे वह सुख-दुःख आदि रूप विषमताओं का भोक्ता माना जाता है और कर्म का उस-उस रूप में फल प्राप्त होता है ? तो इसका उत्तर है कि आत्मा के ज्ञानदर्शनमय होने पर भी वैकारिक — कषायात्मक प्रवृत्ति के द्वारा कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता रहता है[2] और इस ग्रहण करने की प्रक्रिया में मन-वचन-काय का परिस्पन्दन सहयोगी बनता है। जब तक कषायवृत्ति जीव में विद्यमान है तब तक तीव्र विपाकोदय वाले (फल देने वाले) कर्मों का बन्ध होता है। इन बंधे हुए कर्मों के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त होता रहता है। इस फल-प्राप्ति का न तो अन्य कोई प्रदाता है और न सहायक। यदि कर्मफल की प्राप्ति में दूसरे को सहायक माना जाये तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेंगे। दूसरी बात यह भी है कि यदि जीव को कर्मफल की प्राप्ति दूसरे के द्वारा होना

---

१ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवंति। दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला हवंति।
—दशाश्रु० ६

२ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। —तत्त्वार्थसूत्र ८।२

माना जाये तो इसमें जीव के पुरुषार्थ की हानि ही है। जब जीव को फल की प्राप्ति पराधीन है तो फिर सत्कर्मों में प्रवृत्ति एवं असत्कर्मों से निवृत्ति के लिए उत्साह जागृत नहीं होगा और न इस ओर प्रयत्न, पुरुषार्थ किया जायेगा।

उक्त कथन का सारांश यह है कि संसारी जीवों में दृश्यमान विभिन्नताओं, विषमताओं आदि का कारण कर्म है। कर्माधीन होकर ही संसार के अनन्त जीव विभिन्न प्रकार के शरीरों, इन्द्रियों की न्यूनाधिकता वाले हैं। इतना ही नहीं, उनके आत्मगुणों के विकास की अल्पाधिकता का कारण भी कर्म है।

मार्गणाओं में कर्मबन्ध के कारण शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओं से युक्त इन्हीं संसारी जीवों का वर्गीकरण किया गया है। मार्गणायें जीवों के विकास की सूचक नहीं हैं किन्तु स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करके उनका व्यवस्थित रूप दिया गया है जिससे कि उनकी शारीरिक क्षमता का और क्षमता के कारण होने वाले आध्यात्मिक विकास की तरतमता का सही रूप में अंकन किया जा सके।

मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व के ज्ञान की उपयोगिता

तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं के आधार से जीवों की कर्मबन्ध की योग्यता का दिग्दर्शन कराया गया है, तो प्रश्न होता है कि जब दूसरे कर्मग्रन्थ में गुण-स्थानों के अनुसार समस्त संसारी जीवों के चौदह विभाग करके प्रत्येक विभाग की कर्मविषयक बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता सम्बन्धी योग्यता का वर्णन किया जा चुका है और उससे सभी जीवों के आध्यात्मिक उत्कर्ष-अपकर्ष का ज्ञान हो जाता है तब मार्गणाओं के आधार से पुनः उनकी बन्धयोग्यता बतलाने की क्या उपयोगिता है और ऐसे प्रयास की आवश्यकता भी क्या है?

इसका उत्तर यह है कि समान गुणस्थान होने पर भी भिन्न-भिन्न जाति के जीवों की, न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीवों की, भिन्न-भिन्न लिंग (वेद) धारी जीवों की, विभिन्न कषाय परिणाम वाले जीवों की, योग वाले जीवों की तथा इसी प्रकार ज्ञान-दर्शन-संयम आदि आत्मगुणों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों की बन्धयोग्यता बतलाने के लिये मार्गणाओं का आधार लिया गया है। इससे दो लाभ हैं—एक तो यह है कि अमुक गति आदि वाले जीव

के गुणस्थान कितने हो सकते हैं और दूसरा यह कि गुणस्थानों के समान होने पर भी जीव अपने शरीर, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा कितने कर्मों का बन्ध करते हैं। यह कार्य गुणस्थानों की अपेक्षा ही बन्धस्वामित्व बतलाने से सम्भव नहीं हो सकता है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि वालों को मनन करने योग्य है।

ग्रन्थ परिचय

कर्मसिद्धान्त का ज्ञान कराने वाले अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति, शतक और सप्ततिका नामक छह कर्मग्रन्थ हैं। इनको प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ कहा जाता है। इनमें रचयिता भी भिन्न-भिन्न आचार्य हैं और रचना काल भी पृथक्-पृथक् है। इनके साथ प्राचीन विशेषण उनका पुरातनपन बतलाने के लिये नहीं लगाया जाता है किन्तु उनके आधार से बाद के बने नवीन कर्मग्रन्थों से उनका पार्थक्य बतलाने के लिये लगाया गया है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने उक्त प्राचीन कर्मग्रन्थों का अनुसरण करते हुए पाँच कर्मग्रन्थ बनाये हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. कर्मविपाक, २. कर्मस्तव, ३. बन्धस्वामित्व, ४. षडशीति, ५. शतक। ये कर्मग्रन्थ परिमाण में प्राचीन कर्मग्रन्थों से छोटे हैं, लेकिन उनका कोई भी वर्ण्य विषय छूटने नहीं पाया है और अन्य अनेक नये विषयों का भी संग्रह किया गया है। फलतः कर्मसाहित्य के अध्येताओं ने इन ग्रन्थों को अपनाया और कतिपय विद्वानों के सिवाय साधारण जन यह भी नहीं जानते कि श्री देवेन्द्रसूरि के कर्मग्रन्थों के अलावा अन्य कोई प्राचीन कर्मग्रन्थ भी है।

सामान्य रूप से कर्मग्रन्थों का प्रतिपादित विषय कर्मसिद्धान्त है। लेकिन जब प्रत्येक ग्रन्थ के वर्ण्य विषय को जानने की ओर उन्मुख होते हैं तो यह ज्ञातव्य है कि प्रथम कर्मग्रन्थ में ज्ञानावरण आदि कर्मों और उनके भेदप्रभेदों के नाम तथा उनके फल का वर्णन है। दूसरे कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों का स्वरूप समझाकर उनमें कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया गया है। तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं के आश्रय से कर्म प्रकृतियों के बन्ध के स्वामियों का वर्णन किया गया है कि अमुक मार्गणा वाला जीव किन-किन और कितनी प्रकृतियों का बन्ध करता है। चतुर्थ कर्मग्रन्थ में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुण-

स्थान, भाव और संख्या से विभाग करके उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। पंचम कर्मग्रंथ में प्रथम कर्मग्रन्थ में वर्णित प्रकृतियों में से कौन-कौन सी ध्रुव, अध्रुव, बन्ध, उदय, सत्ता वाली हैं, कौन-सी सर्व-देशघाती, अघाती, पुण्य, पाप, परावर्तमान, अपरावर्तमान हैं और उसके बाद उन प्रकृतियों में कौन-सी क्षेत्र, जीव, भव और पुद्गल विपाकी हैं—यह बतलाया गया है। इसके बाद कर्मप्रकृतियों के प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश बन्ध इन चार प्रकार के बन्धों का स्वरूप बतलाया गया है तथा उनसे संबन्धित अन्य कथनों का समावेश करते हुए अन्त में उपशम श्रेणी क्षपक श्रेणी का कथन किया गया है।

तृतीय कर्मग्रन्थ का वर्ण्य-विषय

प्रस्तुत कर्मग्रन्थ में गति आदि १४ मार्गणाओं के उत्तरभेदों में सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा कर्मप्रकृतियों के बंध को बतलाया है। यानी किस मार्गणा वाला जीव कितनी-कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है। यद्यपि ग्रन्थ के प्रारम्भ में मार्गणाओं और उनके उत्तरभेदों का नामोल्लेख नहीं है लेकिन क्रम-क्रम से गति, इन्द्रिय, काय आदि मार्गणाओं के प्रभेदों का आश्रय लेकर क्रमवार बन्धस्वामित्व का कथन किया है, जिससे अध्येता मार्गणाओं के मूल और उनके अवान्तर भेदों को सहज में समझ लेता है।

इस ग्रन्थ और प्राचीन कर्मग्रन्थ का वर्ण्यविषय समान है लेकिन इन दोनों में यह अन्तर है कि प्राचीन में विषय वर्णन कुछ विस्तार से किया गया है और इसमें संक्षेप से। लेकिन उसका कोई भी विषय इसमें छूटा नहीं है। गोम्मट-सार कर्मकाण्ड में भी इस ग्रन्थ के विषय का वर्णन किया गया है, लेकिन उसकी वर्णनशैली कुछ भिन्न है तथा जो विषय तीसरे कर्मग्रन्थ में नहीं है, परन्तु जिस विषय का वर्णन अध्ययन करने वालों के लिये उपयोगी है, वह सब कर्मकाण्ड में है। तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व का वर्णन किया गया है किन्तु कर्मकाण्ड में बन्धस्वामित्व के अतिरिक्त उदय, उदीरणा व सत्ता-स्वामित्व का भी वर्णन है। यह वर्णन अभ्यासियों के लिए उपयोगी होने से परिशिष्ट के रूप में संकलित किया गया है।

संभवतः कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार कर्मकाण्ड के वर्णन में कहीं-कहीं भिन्नता हो सकती है। लेकिन वह भिन्नता आंशिक होगी और उसकी अपेक्षा समानता अधिक है। अतः जिज्ञासुजन 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' की दृष्टि से गोम्मटसार कर्म-काण्ड के उद्धृत अंश की उपयोगिता समझकर कर्मसाहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रवृत्त हों, यह आकांक्षा है।

अन्त में पाठकों को अब तक कर्म साहित्य पर लिखित विविध ग्रन्थों का ऐतिहासिक परिचय भी करा दिया है, ताकि विषय के जिज्ञासु इन ग्रन्थों के परिशीलन की ओर आकृष्ट हों।

प्रथम तीनों भाग की मूल गाथाएं भी इसलिए दी गई हैं कि कर्मग्रन्थ के रसिक उन्हें कण्ठस्थ करके पूरे ग्रन्थ का हार्द हृदयंगम कर सकें। कुल मिलाकर प्रयत्न यह गया किया है कि ग्रन्थ सभी दृष्टियों से उपयोगी बन सके। मूल्यांकन पाठकों के हाथ में है।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

—देवकुमार जैन

वन्दे वीरम्

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

बन्धस्वामित्व

तृतीय कर्मग्रन्थ

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।
गइयाईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥१॥

गाथार्थ—कर्मबन्ध के विधान से विमुक्त, चन्द्रमा के समान सौम्य श्री वर्धमान (वीर) जिनेश्वर को नमस्कार करके गति आदि मार्गणाओं में वर्तमान जीवों के बन्धस्वामित्व को संक्षेप में कहता हूँ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थ में वर्णित विषय का संक्षेप में संकेत किया है।

आत्मप्रदेशों के साथ कर्म के सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं और यह सम्बन्ध मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारणों द्वारा होता है। अर्थात् मिथ्यात्वादि कारणों द्वारा आत्मा के साथ होने वाले कर्मबन्ध के सम्बन्ध को कर्मविधान कहते हैं। इस कर्मविधान से विमुक्त यानी मिथ्यात्वादि कारणों से सर्वथा रहित होकर चन्द्रमा के समान प्रकाशमान, सौम्य और केवलज्ञानरूप श्री—लक्ष्मी से समृद्ध वर्धमान—वीर जिनेश्वर की वन्दना करके संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवों के गति आदि मार्गणाओं की अपेक्षा संक्षेप में बन्धस्वामित्व—कौन-सा जीव कितनी प्रकृतियों को बाँधता है—का वर्णन इस ग्रन्थ में आगे किया जा रहा है।

मार्गणा—गति आदि जिन अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान, जीवस्थान आदि की मार्गणा—विचारणा, गवेषणा की जाती है, उन

अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं। अर्थात्—'जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा'—जिस प्रकार से अथवा जिन अवस्था—पर्यायों आदि में जीवों को देखा गया है, उनकी उसी रूप में विचारणा, गवेषणा करना मार्गणा कहलाता है।

संसार में जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव का बाह्य और आभ्यंतर जीवन अलग-अलग होता है। शरीर का आकार, इन्द्रियाँ, रंग-रूप, विचारशक्ति, मनोबल आदि विषयों में एक जीव दूसरे जीव से भिन्न है। यह भेद कर्मजन्य औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों के कारण तथा सहज पारिणामिक भाव को लेकर होता है। इन अनन्त भिन्नताओं को ज्ञानियों ने चौदह विभागों में विभाजित किया है। इन चौदह विभागों के अवान्तर भेद ६२ होते हैं। जीवों के बाह्य और आभ्यन्तर जीवन के इन विभागों को मार्गणा कहा जाता है।

ज्ञानियों ने जीवों के आध्यात्मिक गुणों के विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए, दूसरे प्रकार से भी चौदह विभाग किये हैं। इन विभागों को **गुणस्थान** कहते हैं।

ज्ञानीजन जीव की मोह और अज्ञान की प्रगाढ़तम अवस्था को निम्नतम अवस्था कहते हैं, और मोहरहित सम्पूर्ण ज्ञानावस्था की प्राप्ति को जीव की उच्चतम अवस्था अथवा मोक्ष कहते हैं। निम्नतम अवस्था से शनैः-शनैः मोह के आवरणों को दूर करता हुआ जीव आगे बढ़ता है, और आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों का विकास करता है। इस विकास-मार्ग में जीव अनेक अवस्थाओं में से गुजरता है। विकासमार्ग की इन क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहा जाता है। इन क्रमिक असंख्यात अवस्थाओं को भी ज्ञानियों ने चौदह भागों में विभाजित किया है। इन चौदह विभागों को शास्त्रों में गुणस्थान कहते हैं।

मार्गणा और गुणस्थान में अन्तर—मार्गणा में किया जाने वाला

विचार कर्म की अवस्थाओं के तरतम भाव का विचार नहीं है, किन्तु शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विभिन्नताओं से घिरे हुए जीवों का विचार मार्गणाओं द्वारा किया जाता है। जबकि गुणस्थान कर्म-पटलों के तरतम भावों और योगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का ज्ञान कराते हैं।

मार्गणाएँ जीव के विकास-क्रम को नहीं बताती हैं, किन्तु इनके स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण करती हैं। जबकि गुणस्थान जीव के विकास-क्रम को बताते हैं और विकास की क्रमिक अवस्थाओं का वर्गीकरण करते हैं। मार्गणाएँ सहभावी हैं, और गुणस्थान क्रमभावी हैं। अर्थात् एक ही जीव में चौदह मार्गणाएँ हो सकती हैं, जबकि गुणस्थान एक जीव में एक ही हो सकता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थानों को छोड़कर उत्तरोत्तर गुणस्थान प्राप्त किये जा सकते हैं और आध्यात्मिक विकास को बढ़ाया जा सकता है, किन्तु पूर्व-पूर्व की मार्गणाओं को छोड़कर उत्तरोत्तर मार्गणाएँ प्राप्त नहीं की जा सकती हैं और उनमें आध्यात्मिक विकास की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त यानी केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले जीव में कषायमार्गणा के सिवाय बाकी की सब मार्गणाएँ होती हैं। परन्तु गुणस्थान तो मात्र एक तेरहवाँ ही होता है। अंतिम अवस्था प्राप्त जीव में भी तीन-चार मार्गणाओं को छोड़कर बाकी की सब मार्गणाएँ होती हैं, जबकि गुणस्थानों में सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान ही होता है।

इस प्रकार मार्गणाओं और गुणस्थानों में परस्पर अन्तर है। गुणस्थानों का कथन दूसरे कर्मग्रन्थ में किया जा चुका है। यहाँ पर मार्गणाओं की अपेक्षा जीव के कर्मबन्धस्वामित्व को समझाते हैं।

जिस प्रकार गुणस्थान चौदह होते हैं, और उनके मिथ्यात्व, सास्वादन आदि चौदह नाम हैं, उसी प्रकार मार्गणाएँ भी चौदह होती हैं तथा उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. गतिमार्गणा, २. इन्द्रियमार्गणा, ३. कायमार्गणा, ४. योग-मार्गणा, ५. वेदमार्गणा, ६. कषायमार्गणा, ७. ज्ञानमार्गणा, ८. संयममार्गणा, ९. दर्शनमार्गणा, १०. लेश्यामार्गणा, ११. भव्य-मार्गणा, १२. सम्यक्त्वमार्गणा, १३. संज्ञिमार्गणा, १४. आहार-मार्गणा।[1]

इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) गति—गति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय को अथवा मनुष्य आदि चारों गतियों (भव) में जाने को गति कहते हैं।[2]

(२) इन्द्रिय—आवरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी स्वयं पदार्थ का ज्ञान करने में असमर्थ ज्ञस्वभाव रूप आत्मा को पदार्थ का ज्ञान कराने में निमित्तभूत कारण को इन्द्रिय कहते हैं।[3] अथवा जिसके द्वारा आत्मा जाना जाये, उसे इन्द्रिय कहते हैं।[4] अथवा इन्द्र के समान[5]

---

१ (क) गइइन्दिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु।
संजमदंसणलेसा भव सम्मे संनि आहारे॥
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ ९

(ख) गइइन्दियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्साभविया सम्मत्त सण्णि आहारे॥
—गो० जीवकांड १४१

२ जं णिरय-तिरिक्ख-मणुस्स-देवाणं णिव्वत्तगं कम्मं तं गदि णामं।
—धवला १।३।५, ५, १०१।३२९।९

३ इन्दतीति इन्द्र आत्मा। तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिलिंगं तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्यु-च्यते। —सर्वार्थसिद्धि १।१४

४ आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिंगमिन्द्रियम्।
—सर्वार्थसिद्धि १।१४

५ अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहं ति मण्णंता।
ईसंति एक्कमेक्कं इन्दा इव इन्दियं जाणे॥
—पंचसंग्रह ६५

अपने-अपने स्पर्शादिक विषयों में दूसरे की (रसना आदि की) अपेक्षा न रखकर जो स्वतंत्र हों, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

(३) **काय**—जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं।

(४) **योग**—मन, वचन, काया के व्यापार को योग कहते हैं, अथवा पुद्गलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं।[1]

(५) **वेद**—नोकषाय मोहनीय के उदय से ऐन्द्रिय-रमण करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं।[2]

(६) **कषाय**—जो आत्मगुणों को कषे (नष्ट) करे अथवा जो जन्म-मरणरूपी संसार को बढ़ाये अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र को न होने दे, उसे कषाय कहते हैं।[3]

(७) **ज्ञान**—जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने, उसे ज्ञान कहते हैं।[4]

---

१ मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जिहूप्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो॥
—**पंचसंग्रह ८८**

२ आत्मप्रवृत्ते मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः।
—**धवला १।१।१।४**

३ (क) कषत्यात्मानं हिनस्ति इति कषाय इत्युच्यते।
(ख) चारित्रपरिणामं कषणात् कषायः।
—**राजवार्तिक ६।७**

४ ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानं, जानाति—स्वविषयं परिच्छिनत्तीति वा ज्ञानं।
—**अनुयोगद्वारसूत्र वृत्ति**

(८) **संयम**—सावद्ययोग से निवृत्ति अथवा पाप-व्यापाररूप आरम्भ-समारंभों से आत्मा जिसके द्वारा काबू में आये अथवा पंच महाव्रत रूप यमों का पालन अथवा पांच इन्द्रियों के जय को संयम कहते हैं।

(९) **दर्शन**—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश का ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते हैं।[1]

(१०) **लेश्या**—जिनके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त हो, जीव के ऐसे परिणामों को लेश्या कहते हैं अथवा कषायोदय से अनुरक्त योग-प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।[2]

(११) **भव्य**—जिस जीव में मोक्षप्राप्ति की योग्यता हो उसे भव्य कहते हैं।

(१२) **सम्यक्त्व**—छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, नव पदार्थ, सात तत्त्वों का जिनेन्द्रदेव ने जैसा कथन किया है, उसी प्रकार से उनका श्रद्धान करना अथवा तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं।[3]

. ... .

१ दर्शनं शासनं सामान्यावबोध लक्षणम्।

—षड्दर्शन समुच्चय २।१८

२ (क) लिंपइ अप्पा कीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च।
जीवोत्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया॥

—पंचसंग्रह १४२

(ख) भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकी-त्युच्यते।

—सर्वार्थसिद्धि २।६

३ (क) छह दव्व णव पयत्था सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥

—दर्शनपाहुड १९

(ख) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

—तत्त्वार्थसूत्र १।२

(१३) संज्ञी—अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं[1] और यह जिसके हो वह संज्ञी कहलाता है। अथवा नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं।[2] अथवा जिसके लब्धि या उपयोगरूप मन पाया जाये उसको संज्ञी कहते हैं।[3]

(१४) आहार—शरीर नामकर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्यमन रूप बनने योग्य नोकर्मवर्गणा का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं। अथवा तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं।[4]

मूल में मार्गणाओं के उक्त चौदह भेदों में से प्रत्येक मार्गणा के उत्तरभेदों की संख्या और नाम[5] यह है—

---

१ आहारादि विषयाभिलाषः संज्ञेति। —सर्वार्थसिद्धि २।२४

२ णोइन्दिय आवरण खओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिअ अवबोहो॥
—गो० जीवकांड ६६०

३ संज्ञिनः समनस्काः —तत्त्वार्थ सूत्र २।२४

४ त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्य पुद्गलग्रहणमाहारः।
—सर्वार्थसिद्धि २।३०

५ सुरनर तिरि निरयगई इगबियतियचउपणिंदि छक्काया।
भूजलजलणानिलवण तसा य मणवयणतणु जोगा॥
वेयनरित्थिनपुंसा कसाय कोह मयमायलोभ त्ति।
मइसुयवहिमणकेवल विहंगमइसुअनाण सागारा॥
सामाइयछेयपरिहार सुहुमअहखायदेसजयअजया।
चक्खुअचक्खूओही केवलदंसण अणागारा॥
किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा।
वेयगखइगुवसममिच्छमीससासाण सन्नियरे॥
आहारे अरभेआ..।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ १०–१४

	मार्गणा नाम	भेद संख्या	नाम
१.	गतिमार्गणा	चार	नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।
२.	इन्द्रियमार्गणा	पाँच	एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।
३.	कायमार्गणा	छह	पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस।
४.	योगमार्गणा	तीन	मन, वचन, काय।
५.	वेदमार्गणा	तीन	पुरुष, स्त्री, नपुंसक।
६.	कषायमार्गणा	चार	क्रोध, मान, माया, लोभ।
७.	ज्ञानमार्गणा	आठ	मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, मतिअज्ञान, श्रुताज्ञान, अवधि-अज्ञान (विभंगज्ञान)।
८.	संयममार्गणा	सात	सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात, देशविरति, अविरति।
९.	दर्शनमार्गणा	चार	चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल।
१०.	लेश्यामार्गणा	छह	कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल।
११.	भव्यमार्गणा	दो	भव्य, अभव्य।
१२.	सम्यक्त्वमार्गणा	छह	वेदक, क्षायिक, उपशम, मिथ्यात्व, मिश्र, सासादन।
१३.	संज्ञिमार्गणा	दो	संज्ञि, असंज्ञि।
१४.	आहारमार्गणा	दो	आहारक, अनाहारक।

प्रश्न :—मार्गणाओं के जो उत्तर भेद बताये हैं, उनमें ज्ञानमार्गणा के मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानों और मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञानों को मिलाकर कुल आठ भेद कहे हैं तथा संयममार्गणा के भेदों में सामायिक आदि भेदों के साथ संयम के प्रतिपक्षी असंयम

का भी समावेश किया गया है। फिर भी उनको ज्ञानमार्गणा और संयममार्गणा कहने का क्या कारण है?

उत्तर—प्रत्येक मार्गणा का नामकरण मुख्य भेदों की अपेक्षा से किया गया है। मुख्य भेद प्रधान हैं और प्रतिपक्षभूत भेद गौण। जैसे किसी वन में नीम आदि के वृक्ष अल्पसंख्या में और आम्रवृक्ष अधिक संख्या में होते हैं, तो उसे आम्रवन कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानमार्गणा के भेदों में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल-ज्ञान यह पाँच ज्ञान मुख्य हैं तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग-ज्ञान गौण हैं, तथा संयममार्गणा के भेदों में सामायिक आदि यथाख्यातपर्यन्त प्रधान तथा संयम का प्रतिपक्षी असंयम गौण है। इसीलिए मति आदि ज्ञानों और सामायिक आदि संयमों की मुख्यता होने से क्रमशः ज्ञानमार्गणा और संयममार्गणा यह नामकरण किया गया है।

मार्गणाओं में सामान्य रूप से तथा गुणस्थानों की अपेक्षा बंध-स्वामित्व का कथन किया गया है। मार्गणाओं में सामान्यतया गुणस्थान नीचे लिखे अनुसार हैं—

गति—तिर्यंचगति में आदि के पांच, देव और नरक गति में आदि के चार तथा मनुष्यगति में पहले मिथ्यात्व से लेकर अयोगिकेवली पर्यन्त सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

इन्द्रिय—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में पहला, और दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं। पंचेन्द्रियों में सब गुणस्थान होते हैं।

काय—पृथ्वी, जल और वनस्पति काय में पहला और दूसरा ये दो गुणस्थान हैं। गतित्रस—तेजःकाय और वायुकाय में पहला गुण-स्थान है। त्रसकाय में सभी गुणस्थान होते हैं।

योग—पहले से लेकर तेरहवें (सयोगिकेवली) तक तेरह गुण-स्थान होते हैं।

वेद—वेदत्रिक में आदि के नौ गुणस्थान होते हैं। (उदयापेक्षा)

कषाय—क्रोध, मान, माया में आदि के नौ गुणस्थान तथा लोभ में आदि के दस गुणस्थान होते हैं। (उदयापेक्षा)

ज्ञान—मति, श्रुत, अवधिज्ञान में अविरत सम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। मनःपर्ययज्ञान में प्रमत्तसंयत आदि सात गुणस्थान हैं। केवलज्ञान में सयोगिकेवली और अयोगिकेवली यह अंतिम दो गुणस्थान पाये जाते हैं। मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग-ज्ञान इन—तीन अज्ञानों में पहले दो या तीन गुणस्थान होते हैं।

संयम—सामायिक, छेदोपस्थापनीय संयम में प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान, परिहारविशुद्धि संयम में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान, सूक्ष्म-संपराय में अपने नाम वाला गुणस्थान अर्थात् दसवाँ गुणस्थान, यथाख्यातचारित्र में अंतिम चार गुणस्थान (ग्यारह से चौदह), देशविरत में अपने नाम वाला (पाँचवाँ देशविरत) गुणस्थान है। अविरति में आदि के चार गुणस्थान पाये जाते हैं।

दर्शन—चक्षु, अचक्षुदर्शन में आदि के बारह गुणस्थान, अवधि-दर्शन में चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थान होते हैं। केवल-दर्शन में अंतिम दो गुणस्थान पाये जाते हैं।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत इन तीनों लेश्याओं में आदि के छह गुणस्थान, तेज और पद्म लेश्या में आदि के सात गुणस्थान, और शुक्ल लेश्या में पहले से लेकर तेरहवें तक तेरह गुणस्थान होते हैं।

भव्य—भव्य जीवों के चौदह गुणस्थान होते हैं। अभव्य जीव को पहला मिथ्यात्व गुणस्थान है।

सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें तक आठ गुणस्थान, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थान, क्षायिक सम्यक्त्व में चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्व में पहला, सास्वादन में दूसरा और मिश्र दृष्टि में तीसरा गुणस्थान होता है।

संज्ञि—संज्ञी जीवों के एक से लेकर चौदह तक सभी गुणस्थान होते हैं तथा असंज्ञी जीवों में आदि के दो गुणस्थान हैं।

आहार—आहारक जीवों के पहले मिथ्यात्व से लेकर तेरहवें सयोगिकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। अनाहारक जीवों के, पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ, चौदहवाँ, यह पांच गुणस्थान होते हैं।

इस प्रकार मार्गणाओं के लक्षण और उनके अवान्तर भेदों की संख्या और नाम आदि बतलाने के बाद जीवों के अपने-अपने योग्य कर्म-प्रकृतियों के बन्ध करने की योग्यता का कथन करने में सहायक कुछ एक प्रकृतियों के संग्रह का संकेत आगे की दो गाथाओं में करते हैं।

जिण सुरविउवाहारदु देवाउ य नरयसुहुमविगलतिग।
एगिंदि थावरायव नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥२॥
अण मज्झागिइ संघयण कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिगं।
उज्जोयतिरि दुगं तिरि नराउ नर उर लदुगरिसहं ॥३॥

गाथार्थ—जिननाम, सुरद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय, स्थावरनाम, आतपनाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम संहनन-चतुष्क, अशुभविहायोगति, नीच गोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भगत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, उद्योतनाम, तिर्यंचद्विक, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, और वज्रऋषभनाराच संहनन यह ५५ प्रकृतियां जीवों का बंधस्वामित्व बतलाने में सहायक होने से अनुक्रम से गिनाई गई हैं।

विशेषार्थ—बंधयोग्य १२० प्रकृतियां हैं। उनमें से उक्त ५५ कर्म-प्रकृतियों का विशेष उपयोग इस कर्मग्रन्थ में संकेत के लिये है। अर्थात् इन दो गाथाओं में संकेत द्वारा संक्षेप में बोध कराने के लिए ५५ प्रकृतियों का संग्रह किया गया है, जिससे आगे की गाथाओं में बंध प्रकृतियों का नामोल्लेख न करके अमुक से अमुक तक प्रकृतियों की संख्या को समझ लिया जाय। जैसे कि 'सुरइगुणवीस' इस पद से देवद्विक से लेकर आगे की १९ प्रकृतियों को ग्रहण कर लेना चाहिये।

गाथाओं में संग्रह की गई प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं--

(१) तीर्थङ्कर नामकर्म,
(२) देवद्विक—देवगति, देवानुपूर्वी,
(३) वैक्रियद्विक—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग,
(४) आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग,
(५) देवायु,
(६) नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु,
(७) सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम,
(८) विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति,
(९) एकेन्द्रिय जाति,
(१०) स्थावर नाम,
(११) आतप नाम,
(१२) नपुंसक वेद,
(१३) मिथ्यात्व मोहनीय,
(१४) हुंड संस्थान,
(१५) सेवार्त संहनन,
(१६) अनन्तानुबंधीचतुष्क—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ,
(१७) मध्यम संस्थानचतुष्क—न्यग्रोध परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान,
(१८) मध्यम संहननचतुष्क—ऋषभनाराच, नाराच, अर्ध-नाराच, कीलिका संहनन,
(१९) अशुभ विहायोगति,
(२०) नीचगोत्र,
(२१) स्त्रीवेद,
(२२) दुर्भगत्रिक—दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम,
(२३) स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि,
(२४) उद्योत नाम,

(२५) तिर्यंचद्विक—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी,
(२६) तिर्यंचायु,
(२७) मनुष्यायु,
(२८) मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी,
(२९) औदारिकद्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग,
(३०) वज्रऋषभनाराच संहनन।

इस प्रकार संक्षेप में बंधयोग्य प्रकृतियों का संकेत करने के लिए प्रकृतियों का संग्रह बतलाकर आगे की चार गाथाओं में चौदह मार्गणाओं में से गतिमार्गणा के भेद नरकगति का बंध-स्वामित्व बतलाते हैं।

सुरइगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण बंधहि निरया।
तित्थ विणा मिच्छि सय सासणि नपुचउ विणा छुनुइ ॥ ४ ॥

गाथार्थ—बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से सुरद्विक आदि उन्नीस प्रकृतियों के सिवाय एक सौ एक प्रकृतियाँ सामान्यरूप से नारक जीव बाँधते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में वर्तमान नारक तीर्थङ्कर नामकर्म के बिना सौ प्रकृतियों को और सास्वादन गुणस्थान में नपुंसक चतुष्क के सिवाय छियानवे प्रकृतियों को बाँधते हैं।

विशेषार्थ गाथा में सामान्य (ओघ)[1] रूप से नरकगति में तथा विशेष[2] रूप से उसके पहले मिथ्यात्व गुणस्थान और दूसरे सास्वादन गुणस्थान में बंधयोग्य प्रकृतियों का कथन किया गया है।

१. ओघबंध—किसी खास गुणस्थान या खास नरक की विवक्षा किये बिना ही सब नारक जीवों का जो बंध कहा जाता है, वह उनका ओघबंध या सामान्यबंध कहलाता है।
२. विशेषबंध—किसी खास गुणस्थान या किसी खास नरक को लेकर नारकों में जो बंध कहा जाता है, वह उनका विशेषबंध कहलाता है। जैसे कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक १०० प्रकृतियों को बाँधते हैं इत्यादि। इसी प्रकार आगे अन्यान्य मार्गणाओं में भी ओघ और विशेष बंध का आशय समझ लेना चाहिए।

नारक—नरकगतिनामकर्म के उदय से जो हों अथवा 'नरान्'—जीवों को, कायन्ति—क्लेश पहुँचायें, उनको नारक कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त न करते हों, उन्हें नारक कहते हैं। नारक निरन्तर ही स्वाभाविक-शारीरिक-मानसिक आदि दुःखों से दुःखी रहते हैं।[1]

सामान्यतया सर्व संसारी जीवों की अपेक्षा १२० प्रकृतियाँ बन्ध-योग्य मानी गई हैं। उनमें से पूर्व की दो गाथाओं में कही गई ५५ प्रकृतियों के संग्रह में से देवद्विक आदि से लेकर अनुक्रम से कही गई उन्नीस प्रकृतियाँ नरकगति में बन्धयोग्य ही न होने से सामान्यतः १०१ प्रकृतियों का बंध माना जाता है। अर्थात् गाथा में जो 'सुरइगुणवीसवज्जं' पद आया है उससे—(१) देवगति, (२) देव-आनुपूर्वी, (३) वैक्रियशरीर, (४) वैक्रिय अंगोपांग, (५) आहारक शरीर, (६) आहारक अंगोपांग, (७) देवायु, (८) नरकगति (९) नरक-आनुपूर्वी, (१०) नरकायु, (११) सूक्ष्म नाम, (१२) अपर्याप्त नाम, (१३) साधारण नाम, (१४) द्वीन्द्रिय जाति, (१५) त्रीन्द्रिय जाति, (१६) चतुरिन्द्रिय जाति, (१७) एकेन्द्रिय जाति, (१८) स्थावर नाम तथा (१९) आतप नाम—इन उन्नीस प्रकृतियों का नारक जीवों के भव-स्वभाव के कारण बंध ही नहीं होता है अतः बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से इन १९ प्रकृतियों को कम करने पर १०१ प्रकृतियों को सामान्य से नरकगति में बंधयोग्य मानना चाहिए।

क्योंकि जिन स्थानों में उक्त उन्नीस प्रकृतियों का उदय होता है, नारक जीव नरकगति में से निकलकर उन स्थानों में उत्पन्न नहीं

---

१. (क) ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
अण्णोण्णेहि य जम्हा तम्हा ते णारया भणिया ॥
— गो० जीवकाण्ड १४६

(ख) नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः।
—तत्त्वार्थसूत्र ३।३

होते हैं। अर्थात् उक्त १९ प्रकृतियों में से देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु—ये ८ प्रकृतियाँ देव और नारकीय-प्रायोग्य है और नारकी जीव मरकर नरक अथवा देव गति में उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः इन आठ प्रकृतियों का नरकगति में बंध नहीं होता है।

सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम और साधारण नाम इन तीन प्रकृतियों का भी बंध नारक जीवों के नहीं होता है। क्योंकि सूक्ष्म नामकर्म का उदय सूक्ष्म एकेन्द्रिय के, अपर्याप्त नामकर्म का उदय अपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के तथा साधारण नामकर्म का उदय साधारण वनस्पति के होता है।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम ये तीन प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय-प्रायोग्य हैं तथा विकलेन्द्रियत्रिक विकलेन्द्रिय-प्रायोग्य हैं। अतः इन छः प्रकृतियों को नारक जीव नहीं बाँधते हैं तथा आहारकद्विक का उदय चारित्रसंपन्न लब्धिधारी मुनियों को ही होता है, अन्य को नहीं। इसलिए देवद्विक से लेकर आतप नामकर्म पर्यन्त १९ प्रकृतियाँ अबन्ध होने से नरकगति में सामान्य से १०१ प्रकृतियों का बंध होता है।

यद्यपि नरकगति में सामान्य से १०१ प्रकृतियाँ बंधयोग्य हैं, लेकिन नारकों में पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। अतः मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध नहीं होने से १०० प्रकृतियों का बंध होता है। क्योंकि तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध का अधिकारी सम्यक्त्वी है, अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध हो सकता है। लेकिन मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यक्त्व नहीं है, अतः मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीव के तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध नहीं होता है। इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान में नारक जीवों के १०० प्रकृतियाँ बंधयोग्य हैं।

दूसरे सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक जीव नपुंसकवेद, मिथ्यात्व-

मोहनीय, हुंडसंस्थान और सेवार्त संहनन—इन चार प्रकृतियों को नहीं बांधते हैं। क्योंकि इन चार प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व के उदयकाल में होता है। लेकिन सास्वादन के समय मिथ्यात्व का उदय नहीं होता है। अर्थात् नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, हुंड संस्थान, आतप नाम, सेवार्त संहनन, नपुंसक वेद और मिथ्यात्वमोहनीय—इन सोलह प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व निमित्तक है। इनमें से नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम—इन बारह प्रकृतियों को नारक जीव भव-स्वभाव के कारण बांधते ही नहीं हैं। अतः देवद्विक आदि में ग्रहण करके इन बारह प्रकृतियों को सामान्य बंध के समय ही कम कर दिया गया और शेष रही नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुंड संस्थान और सेवार्त संहनन—ये प्रकृतियां मिथ्यात्व के निमित्त से बंधती हैं और सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं है। अतः सास्वादन गुणस्थान में इन चार प्रकृतियों को मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीवों की बंधयोग्य १०० प्रकृतियों में से कम करने पर दूसरे सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के ९६ प्रकृतियां बंधयोग्य कही हैं।

सारांश यह है कि बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से नरकगति में सामान्य बंध की अपेक्षा सुरद्विक आदि आतप नामकर्म पर्यन्त १९ प्रकृतियों के बंधयोग्य न होने से १०१ प्रकृतियों का बंध होता है।

नरकगति में मिथ्यात्वादि पहले से चौथे तक चार गुणस्थान होते हैं। अतः नरकगति में बंधयोग्य १०१ प्रकृतियों में से तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध सम्यक्त्व निमित्तक होने से मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध नहीं होने से १०० प्रकृतियों का तथा नपुंसक वेद आदि चार प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व के उदय होने पर होता है और सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से मिथ्यात्व गुणस्थान की बंधयोग्य १०० प्रकृतियों में से नपुंसक वेद आदि चार प्रकृतियों को कम करने से ९६ प्रकृतियों का बंध होता है।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य से तथा पहले और दूसरे गुण-स्थान में नारक जीवों के कर्मप्रकृतियों के बन्धस्वामित्व का वर्णन करने के बाद अब आगे की गाथा में तीसरे और चौथे गुणस्थान तथा रत्नप्रभा आदि भूमियों के नारकों के बंधस्वामित्व को कहते हैं—

विणु अणछवीस मीसे बिसयरि सम्मम्मि जिणनराउ जुया ।
इय रयणाइसु भंगो पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥ ५ ॥

गाथार्थ—अनन्तानुबंधी चतुष्क आदि छब्बीस प्रकृतियों के बिना मिश्रगुणस्थान में सत्तर तथा इनमें तीर्थङ्कर नाम और मनुष्यायु को जोड़ने पर सम्यक्त्व गुणस्थान में बहत्तर प्रकृतियों का बंध होता है । इसी प्रकार नरकगति की यह सामान्य बंधविधि रत्नप्रभादि तीन नरकभूमियों के नारकों के चारों गुणस्थान में भी समझना चाहिए तथा पंकप्रभा आदि नरकों में तीर्थङ्कर नामकर्म के बिना शेष सामान्य बंधविधि पूर्ववत समझना चाहिए ।

विशेषार्थ—नरकगति में पहले और दूसरे गुणस्थान में बंध-स्वामित्व कहने के बाद इस गाथा में तीसरे और चौथे गुणस्थान और रत्नप्रभा आदि छह नरकभूमियों के नारकियों के प्रकृतियों के बंध को बतलाते हैं ।

मिश्र गुणस्थानवर्ती नारकों के ७० कर्मप्रकृतियों का बंध होता है । क्योंकि अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से बंधने वाली अनन्तानु-बंधी चतुष्क, मध्यम संस्थानचतुष्क, मध्यम संहननचतुष्क, अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, स्त्यानर्द्धि-त्रिक, उद्योत और तिर्यंचत्रिक,—इन २५ प्रकृतियों का मिश्र गुण-स्थान में अनन्तानुबंधी का उदय न होने से बंध नहीं होता है । अनन्तानुबंधी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं । दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में अनन्तानुबंधी कषाय की विसंयोजना या क्षय हो जाता है,

इसलिये अनन्तानुबंधी के कारण बँधने वाली उक्त २५ प्रकृतियों का बंध तीसरे मिश्र गुणस्थान में नहीं होता है तथा मिश्र गुणस्थान में रहने वाला कोई भी जीव आयुकर्म का बंध नहीं करता है।[1] अतः मनुष्यायु का भी बन्ध नहीं हो सकता है।

अतः दूसरे गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के बँधने वाली ९६ प्रकृतियों में से अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क आदि पूर्वोक्त २५ प्रकृतियों तथा मनुष्यायु, कुल मिलाकर २६ प्रकृतियों को कम करने से मिश्र गुणस्थानवर्ती नरकगति के जीवों को ७० प्रकृतियों का बंधस्वामित्व मानना चाहिए।

लेकिन चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती नारक जीव सम्यक्त्व के होने से तीर्थङ्करनामकर्म का बंध कर सकते हैं क्योंकि सम्यक्त्व के सद्भाव में ही तीर्थङ्करनामकर्म का बंध होता है[2] तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव के आयुकर्म के बंध न होने के नियम से जिस मनुष्यायु का बंध नहीं होता था, उसका चौथे गुणस्थान में बंध होने से मिश्र गुणस्थान में बंध होने वाली ७० प्रकृतियों में तीर्थंकरनाम और मनुष्यायु—इन दो प्रकृतियों को मिलाने से चौथे गुणस्थानवर्ती नारक जीव ७२ प्रकृतियों का बंध करते हैं।

नरकगति में चौथे गुणस्थानवर्ती नारकों के मनुष्यायु के बंध होने का कारण यह है कि नारक जीव पुनः नरकगति की आयु का बन्ध नहीं कर सकते और न देवायु का ही बन्ध कर सकते हैं। अतः यह दो आयुकर्म की प्रकृतियाँ नरकगति में अबन्ध हैं। इनका संकेत गाथा चार में 'सुरद्गुणवीसवज्जं' पद से पहले किया जा चुका है। तिर्यंचायु का बन्ध अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय होने पर होता है और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पहले, दूसरे गुणस्थान

---

१. (क) सम्मामिच्छद्दिट्ठी आउयबंधं पि न करेइ त्ति।

(ख) मिस्सूणे आउस्स......। —गो० कर्मकाण्ड ९२

२. सम्मेव तित्थबंधो। —गो० कर्मकांड ९२

तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। अतः चौथे गुणस्थान में नारक जीवों के तिर्यंचायु का बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार नरक, देव और तिर्यंचायु के बन्ध नहीं होने से सिर्फ मनुष्यायु शेष रहती है तथा तीसरे मिश्रगुणस्थान में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध न होने का सिद्धान्त होने से चौथे गुणस्थानवर्ती नारक जीव मनुष्यायु का बन्ध कर सकते हैं।

इस प्रकार नरकगति में गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद नरकभूमियों में रहने वाले नारकों की अपेक्षा बंध-स्वामित्व बतलाते हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा—ये सात नरकभूमियाँ हैं। ये भूमियाँ घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित हैं, एक दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक विस्तीर्ण हैं।[1]

इन सात नरकों में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा इन नरकों में सामान्य व चारों गुणस्थानों की अपेक्षा कहे गये नारक जीवों के बन्धस्वामित्व के समान ही बन्धस्वामित्व मानना चाहिए। अर्थात् जैसे नरकगति में पहले गुणस्थान में १००, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्ध माना गया है, उसी प्रकार रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा—इन नरकों में रहने वाले नारक जीवों के अपने-अपने योग्य गुणस्थान में कर्मप्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

गाथा में आये हुए 'रयणाइसु' इस बहुवचनात्मक पद से यद्यपि रत्नप्रभा आदि सातों नरकों का ग्रहण होना चाहिए था, किन्तु यहाँ रत्नप्रभा आदि पहले, दूसरे और तीसरे नरक के ग्रहण करने का कारण

---

१. रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः।

—तत्त्वार्थसूत्र ३।१

यह है कि इसी गाथा में 'पंकाइसु' पद दिया है, जिसका अर्थ है कि पंकप्रभा आदि नरकों में बन्धस्वामित्व का कथन अलग से किया जायगा। इसी कारण पंकप्रभा नामक चौथे नरक से पहले के रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा इन तीन नरकों का यहाँ ग्रहण किया गया है तथा 'पंकाइसु' पद से पंकप्रभा आदि शेष नरकों का ग्रहण करना चाहिए लेकिन 'पंकाइसु' इस पद से पंकप्रभा, धूमप्रभा और तमःप्रभा इन तीनों नरकों का ग्रहण किया गया है, क्योंकि आगे की गाथा में महातमःप्रभा नामक सातवें नरक का बन्धस्वामित्व अलग से कहा है। इस गाथा में तो तीर्थंकरनामकर्म का बन्धस्वामित्व पंकप्रभा आदि महातमःप्रभा पर्यन्त के नारक जीवों के होता ही नहीं है, इस बात को बताने के लिए 'पंकाइसु' पद दिया है।

पंकप्रभा आदि चौथा, पाँचवाँ और छठा—इन तीन नरकों में तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध नहीं होता है।

पंकप्रभा आदि में तीर्थङ्करनामकर्म के बन्धस्वामित्व न होने का कारण यह है कि पंकप्रभा, धूमप्रभा और तमःप्रभा नरकों में सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर भी क्षेत्र के प्रभाव से और तथाप्रकार के अध्यवसाय का अभाव होने से तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि पहले नरक से आया जीव चक्रवर्ती हो सकता है। दूसरे नरक तक से आया जीव वासुदेव हो सकता है और तीसरे नरक तक से आया जीव तीर्थङ्कर हो सकता है। चौथे नरक तक से आया जीव केवली और पाँचवें नरक तक से आया जीव साधु एवं छठे नरक तक से आया जीव देशविरत हो सकता है और सातवें नरक तक से आये जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु देशविरतित्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः पंकप्रभा आदि से आया नारक जीव तीर्थङ्करत्व को प्राप्त नहीं करता है। इसलिए तीर्थङ्करनामकर्म पंकप्रभा आदि तीन नरकों में अबन्ध होने से १०० प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

पंकप्रभा आदि इन तीन नरकों में सामान्य और विशेष रूप में पहले गुणस्थान में १००, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में रत्नप्रभा आदि तीन नरकों के समान क्रमशः ६६ और ७० प्रकृतियों और चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर भी क्षेत्र के प्रभाव से और तथा-प्रकार के अध्यवसाय का अभाव होने से तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध न होने से ७१ प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है।

सारांश यह है कि नरकगति में तीसरे गुणस्थान में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है और गुणस्थानों की अपेक्षा कहे गये बन्धस्वामित्व के समान रत्नप्रभा आदि तीन नरकों में भी समझना चाहिए। लेकिन पंकप्रभा आदि तीन नरकों में तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध न होने से सामान्य और विशेष रूप में पहले गुणस्थान में १००, दूसरे में ६६, तीसरे में ७० और चौथे में ७१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस प्रकार से नरकगति में पहले से लेकर छठे नरक तक के जीवों के बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब आगे की दो गाथाओं में सातवें नरक तथा तिर्यंच गति में पर्याप्त तिर्यंचों के बन्ध-स्वामित्व को कहते हैं—

अजिण मणुआउ ओहे सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
इग नवई सासणे तिरिआउ नपुंस चउवज्जं ॥ ६ ॥
अणचउवीसविरहिया सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे।
सतरसउ ओहि मिच्छे पजतिरिया विणु जिणाहारं ॥ ७ ॥

गाथार्थ—सातवें नरक में सामान्य रूप से तीर्थङ्करनामकर्म और मनुष्यायु का बन्ध नहीं होता है तथा मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र के बिना शेष प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध होता है। सास्वादन गुणस्थान में तिर्यंचायु और नपुंसकचतुष्क के बिना ६१ प्रकृतियों का बन्ध होता है तथा इन ६१ प्रकृतियों

में से अनन्तानुबन्धी आदि चतुष्क २४ प्रकृतियों को कम करके और मनुष्यद्विक एवं उच्चगोत्र इन तीन प्रकृतियों को मिलाने से मिश्रद्विक गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का बन्ध होता है।

तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंच तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक-द्विक के सिवाय सामान्य रूप से तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों को बांधते हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में सातवें नरक के नारकों में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा से एवं तिर्यंचगति में पर्याप्ततिर्यंचों के बन्धस्वामित्व का कथन किया गया है।

नरकगति में सामान्य से १०१ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। उनमें से क्षेत्रगत प्रभाव के कारण तीर्थङ्करनामकर्म के बन्धयोग्य तथाप्रकार के अध्यवसायों का अभाव होने से सातवें नरक के नारक तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध नहीं करते हैं तथा मनुष्यायु का छठे नरक तक ही बन्ध हो सकता है[1] और सातवें नरक की अपेक्षा मनुष्यायु उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है। अतः इसका बन्ध उत्कृष्ट अध्यव-सायों के होने पर ही सकता है। इसलिए सातवें नरक के नारकों को मनुष्यायु का बन्ध नहीं होता है।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य से बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से तीर्थंकरनामकर्म और मनुष्यायु इन दो प्रकृतियों को कम करने से सातवें नरक में ९९ प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है।

सातवें नरक में जो ९९ प्रकृतियाँ बाँधने योग्य बतलाई हैं, उनमें से उसी नरक के पहले मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक मनुष्यद्विक—मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्च गोत्र—इन तीन प्रकृतियों को तथाविध विशुद्धि के अभाव में नहीं बाँधते। क्योंकि सातवें नरक

---

१ छट्ठोत्ति य मणुआउ। —गो० कर्मकाण्ड १०६

के नारक के लिये ये तीन प्रकृतियाँ उत्कृष्ट पुण्यप्रकृतियाँ हैं, जो उत्कृष्ट विशुद्ध अध्यवसाय से बाँधी जाती हैं और उत्कृष्ट अध्यवसाय-स्थान सातवें नरक में तीसरे और चौथे गुणस्थान में होते हैं।[1] इसलिए मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्च गोत्र—इन तीन प्रकृतियों के अबन्ध्य होने से सामान्य से बंधयोग्य ९९ प्रकृतियों में से इन तीन प्रकृतियों को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में सातवें नरक के नारकों के ९६ प्रकृतियों का बंध होना माना जाता है।

सातवें नरक के नारकों के दूसरे सास्वादन गुणस्थान में तिर्यंचायु और नपुंसकचतुष्क—नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान और सेवार्तसंहनन—कुल पाँच प्रकृतियाँ अबन्ध्य होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में जो ९६ प्रकृतियों का बंध कहा गया, उनमें से इन प्रकृतियों को कम करने पर ९१ प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि इस गुणस्थान में योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता है और नपुंसकचतुष्क मिथ्यात्व के उदय में होता है, किन्तु सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं है। अतः नपुंसकचतुष्क का बन्ध नहीं होता है। इसलिये ९६ प्रकृतियों में से इन पाँच प्रकृतियों को कम करने से सास्वादन गुणस्थानवर्ती सातवें नरक के नारकों को ९१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सातवें नरकवर्ती सास्वादन गुणस्थान वाले नारकों को जो ९१ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि तिर्यंचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियों को, अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, न्यग्रोध परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका संहनन, अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी—इन

---

१ मिस्साविरदे उच्चं मणुयदुगं सत्तमे हवे बंधो।
मिच्छा सासणसम्मा मणुयदुगुच्चं ण बंधंति॥
—गो० कर्मकांड १०७

२४ प्रकृतियों का बन्ध अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होता है और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक होता है, अतः पूर्वोक्त ९१ प्रकृतियों में से इन २४ प्रकृतियों को कम करने पर ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्चगोत्र इन तीन प्रकृतियों को मिलाने से तीसरे मिश्र गुणस्थान और चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती सातवें नरक के नारकों के ७० प्रकृतियों का बन्ध होता है।

पूर्व-पूर्व नरक से उत्तर-उत्तर नरक में अध्यवसायों की शुद्धि इतनी कम हो जाती है कि पुण्यप्रकृतियों के बंधक परिणाम पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर नरक में अल्प से अल्पतर होते जाते हैं। यद्यपि आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक जीव प्रति समय किसी न किसी गति का बन्ध कर सकता है। किन्तु नरकगति के योग्य अध्यवसाय पहले गुणस्थान तक, तिर्यंचगति के योग्य आदि के दो गुणस्थान तक, देवगति के योग्य आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक और मनुष्यगति के योग्य चौथे गुणस्थान तक होते हैं। नारक जीव नरक और देवगति का बन्ध नहीं कर सकते हैं। अतः तीसरे और चौथे गुणस्थान में सातवें नरक के नारक मनुष्य-गतियोग्य बन्ध कर सकते हैं। लेकिन वे जीव आयुष्य का बन्ध पहले गुणस्थान में ही करते हैं, अन्य गुणस्थानों में तद्योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से बन्ध नहीं करते हैं। पहले और चौथे गुणस्थान में सातवें नरक के जीव के मनुष्यगति-प्रायोग्य बन्ध के लायक परिणाम नहीं होने से मनुष्य-प्रायोग्य बन्ध नहीं होता है।

मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र रूप जिन पुण्यप्रकृतियों के बन्धक परिणाम पहले नरक के मिथ्यात्वी नारकों को हो सकते हैं, उनके बन्धयोग्य परिणाम सातवें नरक में तीसरे, चौथे गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थान में असंभव है। सातवें नरक में उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वे ही हैं, जिनसे उक्त तीन प्रकृतियों का बन्ध किया जा

सकता है। अतएव सातवें नरक में सबसे उत्कृष्ट पुण्यप्रकृतियाँ उक्त तीन ही हैं।

यद्यपि मनुष्यद्विक भवान्तर में उदय आता है, किन्तु सातवें नरक के जीव मनुष्यायु को बाँधते नहीं हैं, तथापि उसके अभाव में तीसरे-चौथे गुणस्थान में मनुष्यद्विक का बन्ध करते हैं, इसका अर्थ यह है कि मनुष्यद्विक का मनुष्यायु के साथ प्रतिबन्ध नहीं है, यानी आयु का बन्ध गति और आनुपूर्वी नामकर्म के बन्ध के साथ ही होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है।[1] मनुष्य आयु के सिवाय भी तीसरे और चौथे गुणस्थान में मनुष्यद्विक का बन्ध हो सकता है और वह भवान्तर में उदय आता है।

इस प्रकार नरकगति के बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब तिर्यंचगति का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

जिनको तिर्यंचगति नामकर्म का उदय हो उनको तिर्यंच कहते हैं।

तिर्यंचों के दो भेद हैं- पर्याप्ततिर्यंच और अपर्याप्ततिर्यंच। इन दोनों में से यहाँ पर्याप्ततिर्यंचों का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

समस्त जीवों की अपेक्षा सामान्य से बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों का बन्ध तिर्यंचगति में नहीं होता है। अतः सामान्य से पर्याप्त-तिर्यंचों के ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि तिर्यंचों के सम्यक्त्वी होने पर भी जन्म-स्वभाव से ही तीर्थङ्करनामकर्म के बन्धयोग्य अध्यवसायों का अभाव होता है और आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का बन्ध चारित्र धारण करने वालों को ही होता है। परन्तु तिर्यंच चारित्र के अधिकारी नहीं हैं।

---

१ नरद्विकस्य नरायुषा सह नावश्यं प्रतिबन्धो यदुत यत्रैवायुर्बध्यते तत्रैव गत्यानुपूर्वीद्वयमपि, तस्यान्यदाऽपि बन्धात्।

—तृतीय कर्मग्रन्थ अवचूरिका पृ० १०१

अतएव तिर्यंचगति वालों के सामान्य बन्ध में उक्त तीन प्रकृतियों की गिनती नहीं की गई है और इसीलिए तिर्यंचगति में सामान्य से ११७ प्रकृतियों बन्ध माना जाता है।

तिर्यंचगति में पहले मिथ्यात्व से लेकर पाँचवें देशविरत गुणस्थान तक पाँच गुणस्थान होते हैं। ये पाँचों गुणस्थान पर्याप्त-तिर्यंच को होते हैं और अपर्याप्ततिर्यंच को सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

पर्याप्त तिर्यंचों के जो सामान्य से ११७ प्रकृतियों का बन्ध स्वामित्व बतलाया गया है, उसी प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में भी उनके ११७ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए। क्योंकि पहले बता चुके हैं कि तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध सम्यक्त्व होने पर होता है और आहारकद्विक का बन्ध चारित्र धारण करने वालों के होता है। किन्तु मिथ्यात्व गुणस्थान में न तो सम्यक्त्व है और न चारित्र है। अतः मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्याप्ततिर्यंच ११७ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

सारांश यह है कि सातवें नरक के नारक दूसरे गुणस्थान में जो ९१ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं, उनमें से अनन्तानुबंधीचतुष्क आदि तिर्यंचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियों को कम कर देने से शेष रही ६७ प्रकृतियाँ तथा इन ६७ प्रकृतियों में मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र, इन तीन प्रकृतियों को मिलाने से तीसरे मिश्र और चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—इन दो गुणस्थानों में ७० प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

तिर्यंचगति में पर्याप्ततिर्यंच बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से तथा-योग्य अध्यवसायों का अभाव होने से तीर्थङ्करनामकर्म और आहा-रकद्विक का बन्ध नहीं कर सकते हैं। अतः सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा और

तिर्यंचगति में पर्याप्ततिर्यंच के सामान्य से तथा पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद आगे की गाथा में पर्याप्ततिर्यंच के दूसरे से पाँचवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धस्वामित्व को बतलाते हैं—

विणु नरयसोल सासणि सुराउ अण एगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि सम्मे बीयकसाए विणा देसे ॥ ८ ॥

गाथार्थ—सास्वादन गुणस्थान में नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों के बिना तथा मिश्र गुणस्थान में देवायु और अनन्तानुबंधी-चतुष्क आदि इकतीस के बिना और सम्यक्त्व गुणस्थान में देवायु सहित सत्तर तथा देशविरत गुणस्थान में दूसरे कषाय के बिना पर्याप्ततिर्यंच प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

विशेषार्थ—सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्याप्ततिर्यंचों के बन्धस्वामित्व को बतलाने के बाद यहाँ दूसरे से लेकर पाँचवें गुणस्थानपर्यन्त कर्मबन्ध को बतलाते हैं।

पर्याप्त तिर्यंचों के सामान्य से तथा पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से मिथ्यात्व के उदय से बंधने वाली जो प्रकृतियाँ हैं, उनका सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय न होने से नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, जातिचतुष्क—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावरचतुष्क—स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारण-नाम, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन, आतपनाम, नपुंसकवेद, और मिथ्यात्वमोहनीय इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।[1]

---

१. नरयतिग जाइ थावरचउ हुंडायवछिवट्ठ नपुमिच्छं ।
सोलसो इगहिय सयं सासणि...... .... ॥
—कर्मग्रन्थ २१४

पर्याप्ततिर्यंचों के दूसरे गुणस्थान में जो १०१ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया है उनमें से पर्याप्ततिर्यंच मिश्र गुणस्थान में तद्योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से तथा मिश्र गुणस्थान में आयु बन्ध न होने के कारण देवायु तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, अतः उसके निमित्त से बंधने वाली तिर्यंचत्रिक—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि; दुर्भगत्रिक—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेयनाम, अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; मध्यमसंस्थानचतुष्क—न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज संस्थान; मध्यम संहननचतुष्क—ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन; नीचगोत्र, उद्योतनाम, अशुभ विहायोगति और स्त्रीवेद इन पच्चीस प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं करते हैं[1] तथा मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु; औदारिकद्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग और वज्रऋषभनाराच संहनन—इन छह प्रकृतियों के मनुष्य गति योग्य होने से वे नहीं बांधते हैं। क्योंकि चौथे गुणस्थान की तरह तीसरे गुणस्थान के समय पर्याप्तमनुष्य और तिर्यंच दोनों ही देवगति योग्य प्रकृतियों को बांधते हैं, मनुष्यगति-प्रायोग्य प्रकृतियों को नहीं बांधते हैं।

इस प्रकार तीसरे मिश्र गुणस्थानवर्ती पर्याप्ततिर्यंचों के देवायु, अनन्तानुबन्धी कषाय निमित्तक पच्चीस प्रकृतियों तथा मनुष्यगति-प्रायोग्य छह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से कुल मिलाकर ३२ प्रकृतियों को दूसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से घटा देने पर शेष ६९ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

---

१ .... तिरिथीणदुहगतिगं ॥

अणमज्झागिइसंघयणचउ निउज्जोय कुखगइत्थि त्ति ।

—कर्मग्रन्थ २।४,५

पर्याप्ततिर्यंचों के चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मिश्र गुणस्थान की बन्धयोग्य ६९ प्रकृतियों के साथ देवायु का बन्ध भी संभव होने से ७० प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है। क्योंकि तीसरे गुणस्थान में आयु के बन्ध का नियम न होने से आयुकर्म का बन्ध नहीं होता है, किन्तु चौथे गुणस्थान में परभव सम्बन्धी आयु का बंध संभव है। परन्तु चौथे गुणस्थानवर्ती पर्याप्ततिर्यंच और मनुष्य दोनों देवगति-योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं, मनुष्यगति-योग्य प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं। अतः चौथे गुणस्थान में पर्याप्ततिर्यंचों के देवायु का बंध माना जा सकता है।

इस प्रकार तीसरे गुणस्थान की बंधयोग्य ६९ प्रकृतियों में देवायु प्रकृति को मिलाने से पर्याप्त तिर्यंचों के चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का बन्ध होता है।

पर्याप्ततिर्यंचों के पाँचवें देशविरत गुणस्थान में पूर्वोक्त ७० प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियों को कम कर देने पर ६६ प्रकृतियों का बन्ध होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का बन्ध पाँचवें और उसके आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है। क्योंकि यथायोग्य कषाय का उदय तथायोग्य कषाय के बन्ध का कारण है। किन्तु पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का उदय नहीं होता है, अतः उसका यहाँ बन्ध भी नहीं हो सकता है। इनका उदय पहले से लेकर चौथे गुणस्थान तक होता है, अतः वहाँ तक ही बन्ध होता है। इसलिए अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का बन्ध नहीं होने से पर्याप्ततिर्यंचों के ६६ प्रकृतियों का बंध पाँचवें गुणस्थान में माना जाता है।

सारांश यह है कि पर्याप्ततिर्यंचों के पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्धयोग्य ११७ प्रकृतियों में से मिथ्यात्व के उदय से बँधने वाली नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों को कम करने से दूसरे सास्वादन गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों का तथा देवायु और अनन्तानुबन्धी

कषाय निमित्तक २५ प्रकृतियों और मनुष्यगति-योग्य छह प्रकृतियों कुल ३२ प्रकृतियों का बन्ध न होने से दूसरे गुणस्थान की बंधयोग्य १०१ प्रकृतियों में से उन ३२ प्रकृतियों को कम करने से मिश्रगुणस्थान में ६९ प्रकृतियों का तथा मिश्र गुणस्थान की उक्त ६९ प्रकृतियों में देवायु का बन्ध होना संभव होने से चौथे गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का तथा इन ७० प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क को कम करने से पाँचवें देशविरत गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस प्रकार से तिर्यंचगति में पर्याप्ततिर्यंचों के बन्धस्वामित्व का वर्णन करने के बाद आगे की गाथा में मनुष्यगति के पर्याप्त और अपर्याप्त मनुष्यों और अपर्याप्त तिर्यंचों के बन्धस्वामित्व को बतलाते हैं—

इय चउगुणेसु वि नरा परमजया सजिण ओहु देसाई।
जिणइक्कारसहीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥९॥

गाथार्थ—पर्याप्तमनुष्य पहले से चौथे गुणस्थान तक पर्याप्त-तिर्यंच के समान प्रकृतियों को बाँधते हैं। परन्तु इतना विशेष समझना कि सम्यग्दृष्टि पर्याप्तमनुष्य तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध कर सकते हैं, किन्तु पर्याप्ततिर्यंच नहीं तथा पाँचवें गुण-स्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में सामान्य से कर्मस्तव (द्वितीय कर्मग्रन्थ) में कहे गये अनुसार कर्मप्रकृतियों को बाँधते हैं। अपर्याप्ततिर्यंच और मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म आदि ग्यारह प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०९ प्रकृतियों का बंध करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में पर्याप्तमनुष्य और अपर्याप्ततिर्यंच तथा मनुष्यों के बंधस्वामित्व को बतलाया गया है।

मनुष्यगतिनामकर्म और मनुष्यायु के उदय से जो मनुष्य कहलाते हैं अथवा जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-

अतएव, धर्म-अधर्म का विचार करें और जो मन द्वारा गुण-दोषादि का विचार, स्मरण कर सकें, जो मन के विषय में उत्कृष्ट हों, उन्हें मनुष्य कहते हैं।

तिर्यंचों के समान ही मनुष्यों के मुख्यतया पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद हैं। इन दो भेदों में से पर्याप्तमनुष्य सामान्य की अपेक्षा १२० प्रकृतियों का बन्ध करता है। इन बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों का वर्णन दूसरे कर्मग्रन्थ में विशेष रूप से किया जा चुका है। फिर भी संक्षेप में ज्ञान कर लेने के लिए उनकी संख्या इस प्रकार समझनी चाहिए—

ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, वेदनीय २, मोहनीय २६, आयु ४, नाम ६७, गोत्र २, अन्तराय ५। इन भेदों को मिलाने से कुल १२० प्रकृतियाँ हो जाती हैं।[1]

उक्त १२० प्रकृतियों में से पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्याप्ततिर्यंचों के समान ही पर्याप्तमनुष्य, तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं।[2] क्योंकि तीर्थङ्करनामकर्म का बंध सम्यक्त्वी को और आहारकद्विक का बन्ध अप्रमत्तसंयत को होता है, किन्तु मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में जीवों के न तो सम्यक्त्व संभव है और न अप्रमत्तसंयम ही। सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से पहले तथा अप्रमत्तसंयम सातवें गुणस्थान से पहले नहीं हो सकता है। अतः पहले गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य के ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

---

१. पंच णव दोण्णि छब्बीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी।
दोण्णि य पंच य भणिया एदाओ बंधपयडीओ॥

—गो० कर्मकांड ३५

२. जिणयराहारगदुगवज्जं मिच्छम्मि सतरसयं।

—कर्मग्रन्थ २।३

उक्त ११७ प्रकृतियों में से दूसरे गुणस्थान में दूसरे कर्मग्रन्थ में बताई गई 'नरयतिगजाइथावरचउ हुंडायव छिवट्ठ नपुमिच्छं' (गाथा ४) इन १६ प्रकृतियों का अन्त पहले गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से पर्याप्तमनुष्य १०१ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

तीसरे मिश्र गुणस्थान में पर्याप्तमनुष्य पर्याप्ततिर्यंच के लिये बताये गये बन्धस्वामित्व के अनुसार दूसरे गुणस्थान की १०१ प्रकृतियों में से देवायु तथा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से बँधने वाली २५ प्रकृतियों तथा मनुष्यगति-योग्य छह प्रकृतियों¹, कुल ३२ प्रकृतियों को कम करने से ६९ प्रकृतियों को बाँधते हैं।

यद्यपि पर्याप्ततिर्यंच चौथे गुणस्थान में तीसरे गुणस्थान की बंधयोग्य ६९ प्रकृतियों के साथ देवायु का बन्ध करने के कारण ७० प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। किन्तु पर्याप्तमनुष्य के उक्त ७० प्रकृतियों के साथ तीर्थङ्करनामकर्म का भी बंध हो सकने से ७१ प्रकृतियों का बन्ध कर सकते हैं। क्योंकि पर्याप्ततिर्यंचों को चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व तो होता है, किन्तु तीर्थंकरनामकर्म के बन्धयोग्य अध्यवसायों का अभाव होने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं कर पाते हैं।

कर्मग्रन्थ भाग २ (कर्मस्तव) में कहे गये बन्धाधिकार की अपेक्षा पर्याप्तमनुष्य और तिर्यंच के तीसरे—मिश्र और चौथे—अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में इस प्रकार की विशेषता है—कर्मस्तव में तीसरे मिश्र गुणस्थान में ७४ और चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है। परन्तु यहाँ तिर्यंच मिश्रगुणस्थान में मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन इन पाँच प्रकृतियों का अबन्ध होने से ६९ प्रकृतियों को बाँधते हैं और

---

१. 'सुराउ अण एगतीस विणु मीसे।' (तृतीय कर्मग्रन्थ गा० ८) इन ३२ प्रकृतियों के नाम पृष्ठ २८ पर दिये गये हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में देवायु सहित ७० प्रकृतियों को एवं मनुष्य मिश्रगुणस्थान में ६९ और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म और देवायु सहित ७१ प्रकृतियों को बाँधते हैं। चौथे गुणस्थान की इन ७१ प्रकृतियों में मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, वज्रऋषभनाराच संहनन और मनुष्यायु इन छह प्रकृतियों को मिलाने से कर्मस्तव बन्धाधिकार में सामान्य से कही गई ७७ प्रकृतियों का तथा यहाँ पर्याप्त मनुष्य और तिर्यंचों को तीसरे गुणस्थान में जो ६९ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है, उनमें पहले कही गई मनुष्यद्विक आदि छह प्रकृतियों में से मनुष्यायु के सिवाय शेष पाँच प्रकृतियों को मिलाने से ७४ प्रकृतियों का बन्ध समझा जा सकता है।

पर्याप्त मनुष्य के पहले से चौथे गुणस्थान तक का बन्ध-स्वामित्व पूर्वोक्त प्रकार से समझना चाहिए और पाँचवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में कही गई बन्धयोग्य प्रकृतियों के अनुसार उतनी-उतनी प्रकृतियों का बन्ध समझ लेना चाहिए। जैसे कि पाँचवें गुण-स्थान में ६७, छठे गुणस्थान में ६३, सातवें में ५९ या ५८ इत्यादि। विशेष जानकारी के लिए दूसरे कर्मग्रन्थ का बन्धाधिकार देख लें।

पाँचवें गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य के ६७ प्रकृतियों का और पर्याप्त तिर्यंच के ६६ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया गया है तथा दूसरे कर्मग्रन्थ में पाँचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया गया है तो इस भिन्नता का कारण यह है कि पर्याप्त तिर्यंचों के चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने पर भी तीर्थङ्कर नाम-कर्म के बन्धयोग्य अध्यवसायों के न होने से ७० प्रकृतियों का बन्ध बताया गया है और उन ७० प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क को कम करने से ६६ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है जबकि पर्याप्त मनुष्य चौथे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म का भी बन्ध कर सकते हैं। अतः सामान्य से बन्धयोग्य ७१ प्रकृतियों में से

अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क को कम करने से ६७ प्रकृतियों के बन्ध होने का कथन किया जाता है।

पर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब अपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से बन्धस्वामित्व को बतलाते हैं।

अपर्याप्त तिर्यंच और अपर्याप्त मनुष्य— इनमें अपर्याप्त शब्द का मतलब लब्धि[1]-अपर्याप्त समझना चाहिए, करण-अपर्याप्त नहीं। क्योंकि अपर्याप्त शब्द का उक्त अर्थ करने का कारण यह है कि अपर्याप्त मनुष्य तीर्थंकरनामकर्म को भी बांध सकता है।

इन लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के सामान्य से तीर्थंकर नामकर्म, देवद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, देवायु, नरक-त्रिक—इन ग्यारह प्रकृतियों को बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम करने पर १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है तथा अपर्याप्त अवस्था में सिर्फ मिथ्यात्व गुणस्थान ही होने से इस गुणस्थान में भी १०९ प्रकृतियों का बन्ध कर सकते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि होने से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक का बन्ध नहीं करते हैं तथा मरकर देवगति में जाते नहीं, अतः देवद्विक, वैक्रियद्विक और देवायु का भी बन्ध नहीं करते हैं। अपर्याप्त जीव नरकगति में उत्पन्न नहीं होते, अतः नरकत्रिक का भी बन्ध नहीं करते हैं। इसलिए उक्त ग्यारह प्रकृतियों को कम करने से सामान्य की अपेक्षा और मिथ्यात्व गुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के १०९ प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है।

सारांश यह है कि मनुष्यगति में पर्याप्त मनुष्यों के चौदह गुणस्थान होते हैं और सामान्य से १२० प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। लेकिन जब सिर्फ मनुष्यगति की अपेक्षा बन्धस्वामित्व को

---

१. ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेष को लब्धि कहते हैं।

बतलाना हो तो पहले से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक पूर्व गाथा में कहे गये पर्याप्त तिर्यंचों के बंधस्वामित्व के अनुसार बन्ध समझना चाहिए। लेकिन इतनी विशेषता है कि चौथे और पाँचवें गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यंच ७० और ६६ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं, उसकी बजाय पर्याप्त मनुष्यों के चौथे गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म का भी बन्ध हो सकने से ७१ तथा पाँचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। अर्थात् पर्याप्त मनुष्य पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे गुणस्थान में १०१, तीसरे गुणस्थान में ६६, चौथे गुणस्थान में ७१ और पाँचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं और छठे गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक दूसरे कर्मग्रन्थ में बताये गये बन्धाधिकार के समान बन्ध समझना चाहिए।

अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यंच के तीर्थंकरनामकर्म से लेकर नरक-त्रिक पर्यन्त ग्यारह प्रकृतियों का बन्ध ही नहीं होता है तथा पहला गुणस्थान होता है अतः सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा १०६ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार मनुष्यगति में बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद अब आगे की गाथा में देवगति के बन्धस्वामित्व का वर्णन करते हैं—

निरय व्व सुरा नवरं ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया।

कप्पदुगे वि य एवं जिणहीणो जोइभवणवणे ॥१०॥

गाथार्थ—नारकों के प्रकृतिबन्ध के ही समान देवों के भी बन्ध समझना चाहिए। लेकिन सामान्य से और पहले गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों में कुछ विशेषता है। क्योंकि एकेन्द्रिय-त्रिक को देव बाँधते हैं, किन्तु नारक नहीं बाँधते हैं। कल्पद्विक में इसी प्रकार समझना चाहिए तथा ज्योतिष्कों, भवनपतियों और व्यंतर देव निकायों के, तीर्थंकरनामकर्म के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध पहले और दूसरे देवलोक के देवों के समान समझना चाहिए।

विशेषार्थ—अब देवगति में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा बंधस्वामित्व बतलाते हैं। देवों के भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चार निकाय हैं और देवगति में भी नरकगति के समान पहले चार गुणस्थान होते हैं। अतः सामान्य से बंधस्वामित्व बतलाने के बाद चारों निकायों में गुणस्थानों की अपेक्षा बंधस्वामित्व का वर्णन किया जा रहा है।

यद्यपि देवों को प्रकृतिबन्ध नारकों के प्रकृतिबन्ध के समान है। तथापि देवगति में एकेन्द्रियत्रिक—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम—का भी बंध हो सकने से सामान्य बंधयोग्य व पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकगति की अपेक्षा बन्धयोग्य प्रकृतियों में कुछ विशेषता होती है।

'निरय व्व सुरा' नारकों की तरह देवों के भी बन्ध कहने का मतलब यह है कि जैसे नारक मरकर नरकगति और देवगति में उत्पन्न नहीं होते हैं, वैसे ही देव भी मरकर इन दोनों गतियों में उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिए देवत्रिक, नरकत्रिक और वैक्रियद्विक—इन आठ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं तथा सर्वविरत संयम के अभाव में आहारकद्विक का भी बंध नहीं करते हैं और देव मरकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रियों में भी उत्पन्न नहीं होते हैं, जिससे सूक्ष्मत्रिक और विकलेन्द्रियत्रिक इन छह प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। इस प्रकार उक्त कुल १६ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम करने पर सामान्य से १०४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

नरकगति में जो बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से सुरद्विक से लेकर आतप नामकर्म पर्यन्त १९ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से १०१ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है, वहाँ एकेन्द्रियत्रिक—एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों को भी ग्रहण किया गया है। लेकिन देव मरकर बादर एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव नारकियों की अपेक्षा एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप—इन तीन प्रकृतियों को देव अधिक बाँधते हैं। इसलिए नरकगति के

समान ही देवों के सामान्य से बन्ध मानकर भी नरकगति की अबन्ध्य १६ प्रकृतियों में से एकेन्द्रियत्रिक का बन्ध होने से देवों के १०१ की बजाय १०४ प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है।

इस प्रकार सामान्य से देवगति में जो १०४ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया गया है, उसी प्रकार कल्पवासी देवों के पहले सौधर्म और दूसरे ईशान इन दो कल्पों तक समझना चाहिए।

सामान्य से बन्धयोग्य १०४ प्रकृतियों में से देवगति तथा पूर्वोक्त कल्पद्विक के देवों के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध न होने से १०३ प्रकृतियों का बन्ध होता है तथा शेष दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में नरकगति के समान ही क्रमशः ९६, ७० और ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यन्तर निकाय के देवों के तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होने से सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा १०३ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए। क्योंकि इन तीन निकायों के देव वहाँ से निकलकर तीर्थंकर नहीं होते हैं और तीर्थंकर नाम की सत्ता वाले जीव भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवनिकायों में उत्पन्न नहीं होते हैं तथा इन तीन निकायों के जीव अवधिज्ञान सहित परभव में जाते नहीं और तीर्थंकर अवधिज्ञान सहित ही परभव में जाकर उत्पन्न होते हैं। इसलिए इन तीन निकायों के देवों के तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होता है।

इसलिए ज्योतिष्क आदि तीन निकायों के देवों के सामान्य से और पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध न होने से ७२ की बजाय ७१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सारांश यह है कि देवगति में सामान्य की अपेक्षा नरकगति के समान बन्ध होने का नियम होने पर भी एकेन्द्रियत्रिक का बन्ध अधिक होता है। इसलिए जैसे नरकगति में सामान्य से १०१

प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है, उसकी अपेक्षा इन १०१ प्रकृतियों में एकेन्द्रियत्रिक को और मिलाने पर १०४ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

इन १०४ प्रकृतियों का बन्ध सामान्य से कल्पवासी देवों तथा पहले और दूसरे कल्प के देवों को समझना चाहिए। लेकिन मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध नहीं होने से १०३ प्रकृतियों का, दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय से बँधने वाली एकेन्द्रिय जाति आदि सात प्रकृतियों के नहीं बँधने से ९६ और इन ९६ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि २६ प्रकृतियों को कम करने से तीसरे गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का बन्ध होता है और चौथे गुणस्थान में मनुष्यायु एवं तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध होने से मिश्र गुणस्थान की ७० प्रकृतियों में इन दो प्रकृतियों को जोड़ने से ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

ज्योतिष्क, भवनपति और व्यंतर निकाय के देवों के तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होता है। अतः इन तीनों निकायों के देवों के सामान्य से बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १०३ हैं तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में भी १०३ प्रकृतियों का बंध होता है। दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में कल्पवासी देवों के समान ही ९६ और ७० प्रकृतियों का और चौथे गुणस्थान में तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध न होने से ७२ की बजाय ७१ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से देवगति में सामान्य से तथा कल्पवासियों के कल्पद्विक तथा ज्योतिष्क, भवनपति और व्यंतर निकायों के गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद आगे की गाथा में सनत्कुमारादि कल्पों और इन्द्रिय एवं काय मार्गणा में बन्धस्वामित्व का वर्णन करते हैं—

रयण व्व सणकुमाराई आणयाई उज्जोयचउ रहिया।
अपज्जतिरिय व्व नवसयमिगिंदि पुढविजलतरुविगले ॥११॥

गाथार्थ—सनत्कुमारादि देवलोकों में रत्नप्रभा नरक के नारकों के समान तथा आनतादि में उद्योतचतुष्क के सिवाय शेष बन्ध समझना चाहिए। एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, वनस्पति और विकलेन्द्रियों में अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०६ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में सनत्कुमार आदि तीसरे देवलोक से लेकर नवग्रैवेयक देवों पर्यन्त तथा इन्द्रियमार्गणा के एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय एवं कायमार्गणा के पृथ्वी, जल, वनस्पति काय के जीवों के बन्धस्वामित्व को बतलाया गया है।

गाथा में सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक से नवग्रैवेयक तक के देवों के बन्धस्वामित्व का वर्णन दो विभागों में किया गया है। पहले विभाग में सनत्कुमार से लेकर आनत स्वर्ग के पूर्व सहस्रार तक के देवों को और दूसरे विभाग में आनत स्वर्ग से लेकर नवग्रैवेयक पर्यन्त देवों को ग्रहण किया है। यद्यपि गाथा में अनुत्तर विमानों के बारे में संकेत नहीं किया गया है, लेकिन अनुत्तर विमानों में सदैव सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं और उनके चौथा गुणस्थान ही होता है। इसलिए कर्मप्रकृतियों के बन्ध में न्यूनाधिकता न होने से सामान्य से व गुणस्थान की अपेक्षा एक-सा ही बन्ध होता है। देवों के चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है, अतः इनके भी वही समझना चाहिए।

उक्त दो विभागों में पहले विभाग के सनत्कुमार से सहस्रार देवलोक तक के देव जैसे रत्नप्रभा नरक के नारक सामान्य से और गुणस्थानों में जितनी प्रकृतियों का बन्ध करते हैं, वैसे ही उतनी प्रकृतियों का बन्ध इन देवों को समझना चाहिए। क्योंकि ये देव उन-उन देवलोकों से च्यव कर एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए एकेन्द्रिय-प्रायोग्य एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम—इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। इसलिए सामान्य से १०१ प्रकृतियों को बाँधते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकरनाम-

कर्म से रहित १००, सास्वादन गुणस्थान में नपुंसकचतुष्क के बिना ९६ और मिश्र गुणस्थान में अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि २६ से रहित ७० और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मनुष्यायु, तीर्थंकरनामकर्म का भी बन्ध होने से ७२ प्रकृतियों को बाँधते हैं।

आनतादि नवग्रैवेयक पर्यन्त के देव उद्योतचतुष्क – उद्योतनाम, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु इन चार प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं। क्योंकि इन स्वर्गों से च्यव कर ये देव मनुष्य गति में ही उत्पन्न होते हैं, तिर्यंचों में नहीं। अतः तिर्यंच प्रायोग्य इन चार प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं। इसलिए १२० प्रकृतियों में सुरद्विक आदि उन्नीस और उद्योत आदि चार प्रकृतियों को कम करने से ९७ प्रकृतियों का सामान्य से बन्ध करते हैं और गुणस्थानों की अपेक्षा पहले में ९६, दूसरे में ९२, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

अनुत्तर विमानों में सम्यक्त्वी जीव ही उत्पन्न होते हैं और सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथा गुणस्थान होता है। अतः इनके सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा ७२ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से गतिमार्गणा में बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद अब आगे इन्द्रिय और काय मार्गणा में बन्धस्वामित्व को बतलाते हैं।

इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा कायमार्गणा में पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के जीव अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०९ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।[1] क्योंकि अपर्याप्त तिर्यंच या मनुष्य तीर्थंकरनामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं, इसी प्रकार यह सातों मार्गणा वाले जीवों के सम्यक्त्व नहीं है तथा देवगति और

१ जिण इक्कारस हीणं नवसउ अपज्जत्ततिरियनरा।

—कर्मग्रन्थ ३, गा० ९

नरकगति में उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिए तीर्थंकरनाम, देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग इन ग्यारह प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। इसलिए इनके सामान्य से व मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सारांश यह कि सनत्कुमार से लेकर सहस्रार देवलोकपर्यन्त के देव रत्नप्रभा नरक के नारकों के समान ही सामान्य से १०१ प्रकृतियों का और मिथ्यात्व गुणस्थान में १००, सास्वादन गुणस्थान में ९६, मिश्र गुणस्थान में ७० तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

आनत से लेकर नव ग्रैवेयक तक के देव तिर्यंचगति में उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः तिर्यंचगतियोग्य उद्योत, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु का बन्ध नहीं करते हैं अतः सनत्कुमारादि देवों में सामान्य से बंधयोग्य बताई गई १०१ प्रकृतियों में से इन चार प्रकृतियों को भी कम करने से सामान्य से वे ९७ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा आनत आदि कल्पों के देवों में बन्धस्वामित्व क्रमशः ९६, ९२, ७०, ७२ प्रकृतियों का समझना चाहिए।

अनुत्तर विमानों में सम्यक्त्वी जीव उत्पन्न होते हैं और उनके चौथा गुणस्थान होता है। अतः उनके सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा पहले कहे गये देवों के चौथे गुणस्थान के बन्धस्वामित्व के समान ७२ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

गतिमार्गणा के प्रभेदों में बन्धस्वामित्व को बतलाने के बाद क्रमप्राप्त इन्द्रिय और काय मार्गणा में बन्धस्वामित्व का कथन किया है।

इन्द्रियाँ पाँच होती हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र; और जिस जीव को क्रम से जितनी-जितनी इन्द्रियाँ होती हैं, उसको

उतनी इन्द्रियों वाला जीव कहते हैं; जैसे—जिसके पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है उसे एकेन्द्रिय, जिसके स्पर्शन, रसना—यह दो इन्द्रियाँ होती हैं, उसे द्वीन्द्रिय कहते हैं। इसी प्रकार क्रम-क्रम से एक-एक इन्द्रिय को बढ़ाते जाने पर पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। इन एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से इस गाथा में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवों का तथा कायमार्गणा के पहले बताये गये छह भेदों में से पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय—इन तीन कायों का बन्धस्वामित्व बतलाया गया है।

ये एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक तथा पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकाय कुल सात प्रकार के जीवों में पहले गतिमार्गणा में कहे गये अपर्याप्त तिर्यंचों के बन्धस्वामित्व के समान ही १०६ प्रकृतियों का सामान्य से बन्ध समझना चाहिये तथा अपर्याप्त तिर्यंचों के पहले गुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०६ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार गतिमार्गणा में सनत्कुमार से अनुत्तर तक के देवों तथा इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियों और कायमार्गणा में पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के बन्धस्वामित्व को बतलाने के बाद अब आगे की गाथा में एकेन्द्रिय आदि का सास्वादन गुणस्थान की अपेक्षा बन्धस्वामित्व सम्बन्धी मतान्तर बतलाते हैं—

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं।
तिरियनराऊहि विणा तणुपज्जत्तिं न ते जंति ॥१२॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त एकेन्द्रिय आदि जीव सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह प्रकृतियों के बिना सास्वादन गुणस्थान में ९६ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। किन्हीं आचार्यों का मत है कि वे शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं करते हैं, अतः तिर्यंचायु और मनुष्यायु के बिना ९४ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

---

१. 'न जंति जओ' ऐसा भी पाठ है।

विशेषार्थ—इस गाथा में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वी, अप् और वनस्पति काय के जीवों के सास्वादन गुणस्थान में बन्धस्वामित्व को बतलाया है।

पूर्वगाथा में एकेन्द्रिय आदि जीवों के सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०९ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया था। इन १०९ प्रकृतियों में से सास्वादन गुणस्थान में सूक्ष्मत्रिक,[1] विकलत्रिक,[2] एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्वमोहनीय, हुंड संस्थान और सेवार्त संहनन ये १३ प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के उदय से बँधती है, किंतु सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय न होने से इनको कम करने पर ९६ प्रकृतियों का बन्ध होता है क्योंकि भवनपति, व्यन्तर आदि देवजाति के देव मिथ्यात्व-निमित्तक एकेन्द्रिय-प्रायोग्य आयु का बन्ध करने के अनन्तर सम्यक्त्व प्राप्त करें तो वे मरण के समय सम्यक्त्व का वमन करके एकेन्द्रिय रूप में उत्पन्न होते हैं। उनके शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने के पहले सास्वादन सम्यक्त्व हो तो वे ९६ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

लेकिन दूसरे आचार्यों का मत है कि ये एकेन्द्रिय आदि दूसरे गुणस्थान के समय तिर्यंचायु और मनुष्यायु का भी बन्ध नहीं करने से ९४ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।[3] इसी ग्रन्थ में आगे औदारिक-मिश्र में भी सास्वादन गुणस्थान में आयुबन्ध का निषेध किया है, क्योंकि यह अपर्याप्त है।

यह सिद्धान्त है कि कोई भी जीव इन्द्रियपर्याप्ति पूरी किये बिना आयु का बन्ध नहीं कर सकते हैं।

---

१. सूक्ष्मनाम, साधारणनाम, अपर्याप्तनाम।

२. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय।

३. सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ सुहुमतेर।

—कर्मग्रन्थ ३, गाथा १४

६६ और ६४ प्रकृतियों के बन्धस्वामित्व की मतभिन्नता प्राचीन बन्धस्वामित्व में भी देखी जाती है। इस सम्बन्धी गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

> साणा बन्धहिं सोलस नरतिग हीणा य मोत्तु छन्नउइं।
> ओघेणं वीसुत्तर सयं च पंचिंदिया बन्धे ॥२३॥
> इगविगलिंदी साणा तणु पज्जत्तिं न जंति जं तेण।
> नर तिरयाउ अबन्धा मयंतरेणं तु चउणउइं ॥२४॥

६६ प्रकृतियों का बन्ध मानने वालों का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन्द्रियपर्याप्ति के पूर्ण हो चुकने के बाद, जबकि आयुबन्ध का काल आता है, तब तक सास्वादन भाव बना रहता है। इसलिए सास्वादन गुणस्थान में एकेन्द्रिय आदि जीव तिर्यंचायु तथा मनुष्यायु का बन्ध कर सकते हैं।

लेकिन ६४ प्रकृतियों का बंध मानने वाले आचार्यों का मत है कि एकेन्द्रिय जीव का जघन्य आयुष्य २५६ आवलिका होता है। आगामी भव का आयुष्य इस भव के आयुष्य दो भाग बीत जाने के बाद तीसरे भाग में बँधता है, अर्थात् आगामी भव का आयुष्य २५६ आवलिका के दो भाग १७० आवलिका बीत जाने के बाद तीसरे भाग की १७१वीं आवली में बँधता है और सास्वादन सम्यक्त्व का समय (छह आवली) पहले ही पूरा हो जाता है। सास्वादन अवस्था में पहली तीन पर्याप्ति पूर्ण हो जाती हैं, यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी आयुष्य-बन्ध सम्भव नहीं माना जा सकता है तथा औदारिकमिश्र मार्गणा में ६४ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है। अतः ६४ प्रकृतियों के बन्ध का मत युक्तिसंगत मालूम होता है। इसी मत के समर्थन में श्री जीवविजयजी तथा जयसोमसूरि ने अपने टबे में यही बात कही है। इसी मत का समर्थन गोम्मटसार कर्मकाण्ड में नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी किया है—

> पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु सासणो देहे।
> पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥११३॥

(एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय, अर्थात् दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय में, लब्धिअपर्याप्तक अवस्था की तरह बन्धयोग्य १०६ प्रकृतियाँ समझना, क्योंकि तीर्थंकर, आहारकद्वय, देवायु, नरकायु और वैक्रिय-षट्क इस तरह ग्यारह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता और एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय में उत्पन्न हुआ जीव सास्वादन गुणस्थान में देह (शरीर) पर्याप्ति को पूरा नहीं कर सकता है। क्योंकि सास्वादन काल अल्प है और निर्वृत्ति-अपर्याप्त अवस्था का काल बहुत है। इस कारण इस गुणस्थान में मनुष्यायु तथा तिर्यंचायु का भी बन्ध नहीं होता है।)

उक्त दोनों मतों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

"एकेन्द्रिय आदि में सास्वादन गुणस्थान में ९६ और ९४ प्रकृतियों के बंध विषयक मतों में से ९६ प्रकृतियों के बन्ध वालों का मन्तव्य यह है कि शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद भी सास्वादन रहता है और उस समय आयुष्य का बन्ध करे तो ९६ प्रकृतियों का बन्ध हो। इससे यह प्रतीत होता है कि छह आवलिका में अन्तर्मुहूर्त जघन्य हो जाता है, इसलिए शरीरपर्याप्ति छह आवलिका में पूर्ण हो जाती है, उसके बाद आयुष्य का बन्ध होता है, ऐसा मालूम होता है। परन्तु श्री जीवविजयजी और जयसोमसूरि ने अपने टबे में तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड में यह मत प्रदर्शित किया है कि एकेन्द्रिय आदि की जघन्य आयु २५६ आवलिका प्रमाण है और उसके ⅔ भाग अर्थात् १७० आवलिकाएँ बीतने पर ही आयु-बन्ध संभव है। परन्तु उसके पहले ही सास्वादन सम्यक्त्व चला जाता है, क्योंकि वह उत्कृष्ट छह आवलिकापर्यन्त रहता है। इसलिये सास्वादन अवस्था में ही शरीर और इन्द्रियपर्याप्ति का पूर्ण बन जाना मान भी लिया जाये तथापि सास्वादन अवस्था में आयुबन्ध किसी तरह संभव नहीं है। इसके प्रमाण में औदारिकमिश्र मार्गणा के सास्वादन गुणस्थान सम्बन्धी ९४ प्रकृतियों के बन्ध का उल्लेख किया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी बताया है कि एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय में पैदा हुआ सास्वादन सम्यक्त्वी जीव शरीरपर्याप्ति

को पूरी नहीं कर सकता है, इससे उसको उस अवस्था में मनुष्यायु और तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता है।"

उक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ९४ प्रकृतियों के बन्ध का पक्ष विशेष सम्मत और युक्तियुक्त प्रतीत होता। फिर भी ९६ प्रकृतियों के बन्ध को मानने वाले आचार्यों का क्या अभिप्राय है, यह केवलीगम्य है।

सारांश यह है कि एकेन्द्रिय, विकलत्रय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के जीव सास्वादन गुणस्थान में सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह प्रकृतियों को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की बंधयोग्य १०९ प्रकृतियों में से कम करने पर ९६ प्रकृतियों को बाँधते हैं तथा किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है कि इन एकेन्द्रिय आदि वनस्पतिकायपर्यन्त सात मार्गणा वाले जीवों के सास्वादन गुणस्थान में शरीरपर्याप्ति पूर्ण न होने से परभव सम्बन्धी मनुष्यायु और तिर्यंचायु का भी बन्ध नहीं होता है। अतः ये ९४ प्रकृतियों का बंध करते हैं।

एकेन्द्रिय आदि के बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद आगे की गाथा में पंचेन्द्रिय, गतित्रस और योग मार्गणा सम्बन्धी बंधस्वामित्व को बतलाते हैं—

ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा।
मणवयजोगे ओहो उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥१३॥

गाथार्थ – पंचेन्द्रिय जाति व त्रसकाय में ओघ—बंधाधिकार में बताये गये बन्ध के समान बन्ध जानना तथा गतित्रस में जिन-एकादश तथा मनुष्यत्रिक एवं उच्चगोत्र के सिवाय शेष १०५ प्रकृतियों का बन्ध होता है तथा मनोयोग और वचनयोग में ओघ-बन्धाधिकार के समान तथा औदारिक काययोग में मनुष्य गति के समान बन्ध समझना और औदारिक मिश्र में बन्ध का वर्णन आगे की गाथा में करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में पंचेन्द्रियजाति, त्रसकाय, गतित्रस के बन्ध का कथन करने के साथ योगमार्गणा में बन्ध के कथन का प्रारम्भ किया गया है।

पंचेन्द्रियजाति और त्रसकाय का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार में सामान्य से तथा गुणस्थानों की अपेक्षा कहे गये बन्ध के अनुसार ही समझना चाहिए, अर्थात् जैसा कर्मग्रन्थ दूसरे भाग में सामान्य से १२० और विशेष रूप से गुणस्थानों में पहले से लेकर तेरहवें पर्यन्त क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ आदि प्रकृतियों का बन्ध कहा है, वैसा ही पंचेन्द्रियजाति और त्रसकाय में सामान्य से १२० और गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ आदि प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिये। इसी तरह आगे भी जिस मार्गणा में बन्धाधिकार के समान बन्ध स्वामित्व कहा जाय, वहाँ उस मार्गणा में जितने गुणस्थानों की संभावना हो, उतने गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान बन्ध-स्वामित्व समझ लेना चाहिये।

शास्त्र में त्रस जीव दो प्रकार के माने गये हैं—गतित्रस, लब्धि-त्रस। जिन्हें त्रस नामकर्म का उदय होता है और जो चलते-फिरते भी हैं, उन्हें लब्धित्रस[1] तथा जिनको उदय तो स्थावर नामकर्म का होता है, परन्तु गतिक्रिया पाई जाती है, उन्हें गतित्रस कहते हैं। उक्त दोनों प्रकार के त्रसों में से लब्धित्रसों के बन्धस्वामित्व को बतलाया जा चुका है। अब गतित्रस के बन्धस्वामित्व को बतलाते हैं।

गतित्रस के दो भेद हैं—तेजस्काय और वायुकाय। इन दोनों के स्थावर नामकर्म का उदय है। लेकिन गति साधर्म्य से उनको गतित्रस कहते हैं।

---

१ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, ये लब्धित्रस कहलाते हैं क्योंकि इनको त्रस नामकर्म का उदय है।

इन दोनों त्रसों के सामान्य से बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से जिन-एकादश अर्थात् तीर्थंकरनामकर्म से लेकर नरकत्रिकपर्यन्त ११ प्रकृतियों तथा मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। अतः १२० प्रकृतियों में से १५ प्रकृतियों को कम करने से १०५ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

तीर्थंकरनामकर्म आदि १५ प्रकृतियों के बन्ध न होने का कारण यह है कि तेजकाय और वायुकाय के जीव देव, मनुष्य और नारकों में उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए उनके योग्य १४ प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। तेजकाय और वायुकाय जीव तिर्यंचगति में उत्पन्न होते हैं तथा वहाँ भवनिमित्तक नीच गोत्र उदय में होता है; इसलिए उच्च गोत्र का बन्ध नहीं कर सकते हैं।

इन दोनों गतित्रसों के सिर्फ मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है, सास्वादन गुणस्थान नहीं होता है, क्योंकि सम्यक्त्व का वमन करता हुआ कोई जीव इस गुणस्थान में आकर उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए सामान्य से जैसे तेजकाय और वायुकाय के जीव १०५ प्रकृतियों को बाँधते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान में भी १०५ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

कायमार्गणा में बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब योग-मार्गणा में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

योग के मूल में मनोयोग, वचनयोग और काययोग—ये तीन मुख्य भेद हैं और इनमें भी मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात भेद होते हैं। मनोयोग और मनोयोग सहित वचन योग इन दो भेदों में तेरह गुणस्थान होते हैं, अतः उनमें दूसरे कर्मग्रन्थ में बतलाये गये बन्ध के अनुसार ही बन्ध समझना चाहिये।

गाथा के 'मणवयजोगे ओहो उरले नरभंगु' पद में मणवयजोगे तथा उरले—ये दोनों पद सामान्य हैं तथापि 'ओहो' और 'नरभंगु' पद के ... 'वय' से 'वयजोग' का मतलब मनोयोग सहित वचनयोग

और उरल का मतलब मनोयोग, वचनयोग सहित औदारिक काययोग समझना चाहिये। उसी दृष्टिकोण की अपेक्षा बन्धस्वामित्व का विचार किया गया है। लेकिन वचयोग से केवल वचनयोग और उरल से केवल औदारिक काययोग ग्रहण किया जाय तो मनोयोग रहित वचनयोग में बन्धस्वामित्व विकलेन्द्रिय के समान और काययोग में एकेन्द्रिय के समान समझना चाहिए। अर्थात् जैसे विकलेन्द्रियों और एकेन्द्रिय में क्रमशः सामान्य से १०९, मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ और सास्वादन गुणस्थान में ९६ अथवा ९४ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया है उसी प्रकार इनमें भी बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

सारांश यह है कि पंचेन्द्रिय तथा त्रस मार्गणा में सामान्य बन्धाधिकार के समान बन्ध समझना और गतित्रसों में जिन-एकादश, मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ प्रकृतियों को कम करने से १०५ प्रकृतियों का सामान्य से और पहले गुणस्थान में बंध होता है।

योग मार्गणा में मनोयोग, वचनयोग सहित औदारिक काययोग वालों के पर्याप्त मनुष्य में कहे गये बन्ध के समान ही बन्ध समझना। केवल वचनयोग और काययोग का बन्धस्वामित्व एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के समान बताये गये बन्ध के समान समझना चाहिए।

इस प्रकार मन, वचन व उरल सहित औदारिक काययोग में पूर्ण रूप से तथा काययोग में औदारिक काययोग का बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद आगे काययोग के शेष भेदों में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं। उनमें से सर्वप्रथम औदारिकमिश्र काययोग का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

> **आहारछग विणोहे चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं।**
> **सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ[1] सुहुमतेर ॥१४॥**

---

१. तिरिअनराऊ —इति पाठान्तरम्।

गाथार्थ—(पूर्व गाथा से लब्धिसे पद यहाँ लिया जाय) औदारिक मिश्रयोग में सामान्य से आहारकषट्क के बिना ११४ प्रकृतियों का बन्ध होता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिननामपंचक से हीन १०९ प्रकृतियों का बन्ध मानना चाहिए तथा सास्वादन में मनुष्यायु और तिर्यंचायु तथा सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह कुल १५ प्रकृतियों के सिवाय ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

विशेषार्थ—गाथा में औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में सामान्य रूप से और पहले, दूसरे गुणस्थान में बन्धस्वामित्व का कथन किया गया है।

पूर्वभव से आने वाला जीव अपने उत्पत्ति स्थान में प्रथम समय में केवल कार्मणयोग द्वारा आहार ग्रहण करता है। उसके बाद औदारिक काययोग की शुरुआत होती है, वह शरीरपर्याप्ति बनने तक कार्मण के साथ मिश्र होता है और केवलिसमुद्घात अवस्था में दूसरे, छठे और सातवें समय में कार्मण के साथ औदारिकमिश्र योग होता है।

औदारिकमिश्र का योगयमनुष्य और तिर्यंचों के अपर्याप्त अवस्था में ही होता है और इसमें पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ ये चार गुणस्थान होते हैं।

औदारिकमिश्र काययोग में सामान्य से आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु और नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु इन छह को बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम करने से ११४ प्रकृतियों का बंध होता है। क्योंकि विशिष्ट चारित्र के अभाव में; तथा सातवें गुणस्थान में ही बन्ध होने से आहारकद्विक का औदारिकमिश्र काययोग में बन्ध नहीं हो सकता तथा देवायु और नरकत्रिक—इन चार प्रकृतियों का बंध सम्पूर्ण पर्याप्ति पूर्ण किये बिना नहीं होता है, अतः इन छह प्रकृतियों का बंध औदारिकमिश्र काययोग में नहीं माना जाता है।

औदारिकमिश्र काययोग में पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के समय जिनपंचक—तीर्थङ्करनामकर्म, देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग को सामान्य से बंधयोग्य ११४ प्रकृतियों में से कम करने पर १०९ प्रकृतियों का बंध होता है।

औदारिकमिश्र काययोग में जो १०९ प्रकृतियों का बंधस्वामित्व मिथ्यात्व गुणस्थान में माना गया है, उसमें मनुष्यायु और तिर्यंचायु का भी ग्रहण किया गया है। इस सम्बन्ध में शीलांकाचार्य का मत है कि औदारिकमिश्र काययोग शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने के पूर्व तक होता है।[1]

श्री भद्रबाहु स्वामी ने भी इसी मत के समर्थन में युक्ति दी है—

जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो।
तेण परं मीसेणं जाव सरीर निप्फत्ती॥

इसको लेकर श्री जीवविजयजी ने अपने टबे में शंका उठाई है कि औदारिकमिश्र काययोग शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त रहता है, आगे नहीं और आयुबंध शरीरपर्याप्ति और इन्द्रियपर्याप्ति पूरी हो जाने के बाद होता है, पहले नहीं। अतएव औदारिकमिश्र काययोग के समय, अर्थात् शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व आयु का बंध सम्भव नहीं है। इसलिए उक्त दो आयुओं का १०९ प्रकृतियों में ग्रहण विचारणीय है।

लेकिन यह कोई नियम नहीं है कि शरीरपर्याप्ति पूरी होने पर्यन्त औदारिकमिश्र काययोग माना जाय, आगे नहीं।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने जो युक्ति दी है उसमें 'सरीर निप्फत्ती' पद का यह अर्थ नहीं है कि शरीर पूर्ण बन जाने पर्यन्त उक्त योग रहता है। शरीर की पूर्णता केवल शरीरपर्याप्ति के बन जाने से नहीं हो सकती है। इसके लिए जीव का अपने-अपने योग्य इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन सब पर्याप्तियों के पूर्ण हो जाने से ही शरीर का

---

१. औदारिककाययोगस्तिर्यङ्मनुष्ययोः शरीरपर्याप्तेरूर्ध्वम्।

—आचारांगटीका ११२

पूरा बन जाना माना जा सकता है। 'शरीर निष्फत्तो' पद का यह अर्थ स्वकल्पित नहीं है। इस अर्थ का समर्थन स्वयं ग्रन्थकार श्री देवेन्द्र-सूरि ने स्वरचित चौथे कर्मग्रन्थ की चौथी गाथा[1] के 'तणुपज्जेसु उरलमन्ने' इस अंश की निम्नलिखित टीका में किया है—

यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापीन्द्रियोच्छ्वासादीनामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वादतएव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमाणत्वादौदारिक मिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानकमिति।

अब यह भी पक्ष है कि स्वयोग्य सब पर्याप्तियाँ पूरी हो जाने तक औदारिकमिश्र काययोग रहता है, तब औदारिकमिश्र काययोग शरीरपर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त रहता है, आगे नहीं और आयुबंध शरीरपर्याप्ति और इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद होता है, पहले नहीं—इस संदेह को कुछ भी अवकाश नहीं रहता है। क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जाने के बाद जब कि आयुबंध का अवसर आता है, तब भी औदारिकमिश्र काययोग तो रहता ही है। इसलिये औदारिकमिश्र काययोग में मिथ्यात्व गुणस्थान के समय मनुष्यायु और तिर्यंचायु—इन दो आयुओं का बन्धस्वामित्व माना जाना इस पक्ष की अपेक्षा युक्त ही है।

मिथ्यात्व गुणस्थान के समय औदारिकमिश्र काययोग में उक्त दो आयुओं के बंध का पक्ष जैसा कर्मग्रन्थ में निर्दिष्ट किया गया है, वैसा ही गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी बताया है—

ओराले वा मिस्से ण सुरणिरयाउहारणिरयदुगं।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि ॥११६॥

अर्थात्—औदारिकमिश्र काययोग में औदारिक काययोगवत् रचना जानना। विशेष बात यह है कि देवायु, नरकायु, आहारकद्विक, नरक-गति, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों का बन्ध भी नहीं होता है,

---

१ अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते।
सविउव्वमीस एसुं तणुपज्जेसुं उरलमन्ने॥

अर्थात् ११४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। उसमें भी मिथ्यात्व और सास्वादन—इन दो गुणस्थानों में देवचतुष्क और तीर्थंकरनामकर्म इन पाँच प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, परन्तु चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में इनका बन्ध होता है।

उक्त कथन की पुष्टि श्री जयसोमसूरि ने अपने टबे में भी की है। उन्होंने लिखा है कि 'यदि यह पक्ष माना जाय कि शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने तक ही औदारिकमिश्र काययोग रहता है तो मिथ्यात्व में तिर्यंचायु तथा मनुष्यायु का बन्ध कथमपि नहीं हो सकता है। इसलिए इस पक्ष की अपेक्षा उस योग में सामान्य रूप से ११२ और मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।' इस कथन से स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जाने तक औदारिकमिश्र काययोग रहता है—इस पक्ष की स्पष्ट सूचना मिलती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि औदारिकमिश्र काययोग में सामान्य से बंधयोग्य ११४ प्रकृतियाँ और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियाँ बंधयोग्य मानना युक्तिसंगत है।

पहले गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग का बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद अब दूसरे सास्वादन गुणस्थान में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं। इस गुणस्थान में मनुष्यायु और तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि सास्वादन गुणस्थान में वर्तता जीव शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं करता है। क्योंकि शरीपर्याप्ति पूर्ण हो जाने के बाद आयुबन्ध होना संभव है तथा यहाँ मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यात्व के उदय से बँधने वाली सूक्ष्मत्रिक से लेकर सेवार्त संहनन पर्यन्त १३ प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता है। अतः उक्त दो और तेरह ये—कुल पन्द्रह प्रकृतियों को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की बन्धयोग्य १०९ प्रकृतियों में से कम करने पर ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है। अर्थात् उक्त १५ प्रकृतियों में से १३ प्रकृतियों का विच्छेद मिथ्यात्व गुणस्थान के चरम समय में हो जाने से तथा दो आयु अबन्ध होने से औदारिकमिश्र काययोग वाले के दूसरे सास्वादन गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सारांश यह है कि औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में सामान्य से ११४ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं और इस योग वाले के पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ ये चार गुणस्थान होते हैं। इनमें से पहले गुणस्थान में १०९ तथा दूसरे गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस प्रकार औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में सामान्य से तथा गुणस्थान की अपेक्षा पहले, दूसरे गुणस्थान में बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद आगे की गाथा में चौथे और तेरहवें गुणस्थान में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं। साथ ही कार्मण काययोग और आहारक काययोगद्विक में भी बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं।
विणु तिरिनराउ कम्मे वि एवमाहारदुगिओहो ॥१५॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त ९४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि चौबीस प्रकृतियों को कम करके शेष रही प्रकृतियों में तीर्थंकर नामपंचक के मिलाने से औदारिकमिश्र काययोग में चौथे गुणस्थान के समय ७५ प्रकृतियों का तथा सयोगिकेवली गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय का बन्ध होता है। कार्मण काययोग में तिर्यंचायु और मनुष्यायु के बिना और सब प्रकृतियों का बन्ध औदारिकमिश्र काययोग के समान ही है और आहारकद्विक में गुणस्थानों में बताये बन्ध के समान बन्ध समझना चाहिए।

विशेषार्थ—पूर्वगाथा और इस गाथा में मिलाकर औदारिकमिश्र काययोग के पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें गुणस्थान के बन्धस्वामित्व का विचार किया है। दूसरे गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया गया है, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क से लेकर तिर्यंचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियों को कम करने से ७० प्रकृतियाँ शेष

---

१ तृतीय कर्मग्रन्थ, गा० ३ के अनुसार।

रहती हैं, और उनमें जिनपंचक—तीर्थंकर, नामकर्म, देवद्विक और वैक्रिय-द्विक को मिलाने से ७५ प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थान में होता है।

शंका—चौथे गुणस्थान के समय औदारिकमिश्र काययोग में जिन ७५ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व कहा है, उनमें मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन; इन पांच प्रकृतियों का समावेश है। इस पर श्री जीवविजयजी ने अपने टबे में शंका उठाई है कि चौथे गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोगी उक्त पांच प्रकृतियों को बांध नहीं सकता है। क्योंकि तिर्यंच तथा मनुष्य के सिवाय दूसरों से यह योग संभव नहीं है और तिर्यंच तथा मनुष्य इस गुणस्थान में उक्त पांच प्रकृतियों को बांध नहीं सकते हैं, अतएव तिर्यंचगति और मनुष्यगति में चौथे गुणस्थान के समय क्रम से जो ७० और ७१ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व कहा गया है, उसमें उक्त पांच प्रकृतियां नहीं आती हैं।

इसका समाधान श्री जयसोमसूरि ने अपने टबे में किया है कि गाथागत 'अणचउवीसाइ' इस पद का अर्थ 'अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ' यह नहीं करना चाहिए, किन्तु 'आइ' शब्द से और भी पांच प्रकृतियां लेकर अनन्तानुबन्धी आदि २४ तथा मनुष्यद्विक आदि पांच कुल २९ प्रकृतियां यह अर्थ करना चाहिये। ऐसा अर्थ करने से उक्त सन्देह नहीं रहता। क्योंकि ९४ में से २९ घटाने से शेष रही ६५ प्रकृतियों में जिनपंचक मिलाने से ७० प्रकृतियाँ होती हैं, जिनका बन्ध-स्वामित्व उस योग में उक्त गुणस्थान के समय किसी तरह विरुद्ध नहीं है। यह समाधान प्रामाणिक जान पड़ता है।

दूसरी बात यह है कि मूल गाथा में ७५ संख्या का बोधक कोई पद नहीं है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी दूसरे गुणस्थान में २९ प्रकृतियों का विच्छेद मानते हैं—

पण्णरसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो।

गो० कर्मकाण्ड, गाथा ११६

यद्यपि टीका[1] में ७५ प्रकृतियों के बन्धस्वामित्व का निर्देश स्पष्ट किया है—प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुबन्ध्यादिचतुर्विंशतिप्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृतिपंचकयुता च पंचसप्ततिस्तामौदारिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे बध्नाति' तथा बन्धस्वामित्व नामक प्राचीन तीसरे कर्मग्रन्थ (गाथा २५-२६) में भी ७५ प्रकृतियों के ही बन्ध का विचार किया गया है। इसी प्रकार प्राचीन बन्धस्वामित्व की टीका में श्री गोविन्दाचार्य ने भी इस विषय में किसी प्रकार का शंका-समाधान नहीं किया है। इससे जान पड़ता है कि यह विषय यों ही बिना विशेष विचार किये परम्परा से मूल और टीका में चला आया है। इस ओर कर्मग्रन्थकारों को विचार करना चाहिए। तब तक श्री जयसोमसूरि के समाधान को महत्त्व देने में कोई हानि नहीं है।

औदारिकमिश्र काययोग के स्वामी मनुष्य और तिर्यंच हैं और चौथे गुणस्थान में उनको क्रमशः ७१ और ७० प्रकृतियों का बंध कहा है तथापि औदारिकमिश्र काययोग में चौथे गुणस्थान के समय ७१ प्रकृतियों का बंध न मानकर ७० प्रकृतियों के बंध को मानने का समर्थन इसलिए किया जाता है कि यह योग अपर्याप्त अवस्था में होता है और अपर्याप्त अवस्था में मनुष्य अथवा तिर्यंच देवायु का बंध नहीं कर सकते हैं। क्योंकि तिर्यंच तथा मनुष्य की बंधयोग्य प्रकृतियों में देवायु परिगणित है। परन्तु औदारिकमिश्र काययोग की बंधयोग्य प्रकृतियों में से उसको निकाल दिया है।

तेरहवें गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग में एक सातावेदनीय प्रकृति का बंध होता है।

औदारिकमिश्र काययोग में उक्त बंधस्वामित्व का कथन कर्म-ग्रन्थ के मतानुसार किया गया है। लेकिन सिद्धान्त के मतानुसार

---

१ उक्त टीका मूलकर्ता श्री देवेन्द्रसूरि की नहीं है।

इस योग में और भी दो (पाँचवाँ, छठा) गुणस्थान माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में सिद्धान्त का मत है कि वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर का प्रारम्भ करने के समय अर्थात् पाँचवें, छठे गुणस्थान में और आहारकलब्धि से आहारक शरीर की रचना के समय अर्थात् छठे गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग होता है।

इस मत की सूचना चौथे कर्मग्रन्थ की गाथा ४९ में की गई है—

सासणभावे नाणं विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि॥

इसकी स्वोपज्ञ टीका में ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है—औदारिक शरीरवाला वैक्रियलब्धिधारक मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच या बादर पर्याप्त वायुकाय जिस समय वैक्रिय शरीर रचता है, उस समय वह औदारिक शरीर में रहता हुआ अपने प्रदेशों को फैलाकर और वैक्रिय शरीर-योग्य पुद्गलों को लेकर जब तक वैक्रिय शरीर पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता तब तक उसके औदारिक काययोग की वैक्रियशरीर के साथ मिश्रता है, परन्तु व्यवहार औदारिक को लेकर औदारिक-मिश्रता का करना चाहिए, क्योंकि उसी की प्रधानता है। इसी प्रकार आहारक शरीर करने के समय भी उसके साथ औदारिक काययोग की मिश्रता को जान लेना चाहिए।[1]

सिद्धान्त के उक्त कथन का आशय यह है कि वैक्रिय और आहारक का प्रारम्भ काल में औदारिक के साथ मिश्रण होने से औदारिकमिश्र कहा है। वैक्रियलब्धि, आहारकलब्धि सम्पन्न जब उक्त शरीर करता है तब औदारिक शरीरयोग में वर्तमान होता है। जब तक वैक्रिय शरीर या आहारक शरीर में शरीरपर्याप्ति पूर्ण न कर ले तब तक मिश्रता होती है। परन्तु औदारिक की मुख्यता होने से व्यपदेश औदारिकमिश्र का होता है। अर्थात् वैक्रिय और आहारक करते समय तो औदारिकमिश्र यह कहा जाता

१. प्रज्ञापना, पद १६, पत्र ३१६-१ (चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पृ. १८२ पर उद्धृत)

है और परित्याग काल में अनुक्रम से वैक्रियमिश्र और आहारक-मिश्र यह व्यपदेश होता है। लेकिन कर्मग्रन्थकार मानते हैं कि किसी भी शरीर द्वारा काययोग का व्यापार हो परन्तु औदारिक शरीर जन्मसिद्ध है और वैक्रिय व आहारक लब्धिजन्य हैं अतः लब्धिजन्य शरीर की प्रधानता मानकर प्रारम्भ और परित्याग के समय वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र व्यवहार करना चाहिए, न कि औदारिकमिश्र।

औदारिकमिश्र काययोग में चार गुणस्थान मानने वाले कर्मग्रन्थ के विद्वानों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि कार्मण शरीर और औदारिक शरीर दोनों के सहयोग से होने वाले योग को औदा-रिकमिश्र काययोग कहना चाहिए जो पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें इन चार गुणस्थानों में ही पाया जा सकता है। किन्तु सैद्धान्तिकों का आशय यह है कि जिस प्रकार कार्मण शरीर को लेकर औदारिक मिश्रता मानी जाती है, उसी प्रकार लब्धिजन्य वैक्रिय और आहारक शरीर की मिश्रता मानकर औदारिकमिश्र काययोग मानना चाहिए।

सिद्धान्त का उक्त दृष्टिकोण भी ग्रहण करने योग्य है और उस दृष्टि से औदारिकमिश्र काययोग में पाँचवां, छठा यह दो गुणस्थान माने जा सकते हैं। किन्तु, यहाँ बन्धस्वामित्व कर्मग्रन्थों के अनुसार बत-लाया जा रहा है अतः पाँचवें, छठे गुणस्थान सम्बन्धी बन्धस्वामित्व का विचार नहीं किया है।

औदारिकमिश्र काययोग के बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब कार्मण काययोग के बन्धस्वामित्व को बतलाते हैं।

कार्मण काययोग भवान्तर के लिए जाते हुए अन्तराल गति के समय और जन्म लेने के प्रथम समय में होता है। कार्मण काययोग वाले जीवों के—पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां—ये चार गुण-स्थान होते हैं। इनमें से तेरहवां गुणस्थान केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में सयोगिकेवली भगवान को होता है और

शेष तीन गुणस्थान अन्य जीवों के अन्तराल गति के समय तथा जन्म के प्रथम समय में होते हैं।

इस कार्मण काययोग मार्गणा में सामान्य से तथा गुणस्थानों के समय औदारिकमिश्र काययोग के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसमें तिर्यंचायु और मनुष्यायु का भी बन्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में जो बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ बतलाई हैं, उनमें से औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु इन ६ प्रकृतियों के कम करने से ११४ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया है। किन्तु कार्मण काययोग में उक्त छह प्रकृतियों के साथ तिर्यंचायु और मनुष्यायु को और कम करने से सामान्य से ११२ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में उक्त ११२ प्रकृतियों में से औदारिकमिश्र काययोग की तरह तीर्थंकरनामकर्म आदि पाँच प्रकृतियों के बिना १०७ तथा इन १०७ प्रकृतियों में से दूसरे गुणस्थान में सूक्ष्मत्रिक आदि १३ प्रकृतियों को कम करने से ६४ एवं इन ६४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि २४ प्रकृतियों को कम करने तथा तीर्थंकरनामकर्म आदि पाँच प्रकृतियों को जोड़ने से चौथे गुणस्थान में ७५ प्रकृतियों का बन्ध होता है और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय कर्मप्रकृति का बन्ध होता है।

यद्यपि कार्मण काययोग बन्धस्वामित्व औदारिकमिश्र काययोग के समान कहा गया है और चौथे गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग में ७५ प्रकृतियों के बन्ध को लेकर शंका उठाकर ७० प्रकृतियों के बन्ध का समर्थन किया है। लेकिन कार्मण काययोग में चतुर्थ गुणस्थान के समय उक्त शंका करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि औदारिकमिश्र काययोग सिर्फ मनुष्यों और तिर्यंचों के ही होता है, किन्तु कार्मण काययोग के अधिकारी मनुष्य तथा तिर्यंचों के अतिरिक्त देव और नारक भी हैं, जो मनुष्यद्विक

आदि पाँच प्रकृतियों को बाँधते हैं। इसी से कार्मण काययोग के चौथे गुणस्थान में उक्त पाँच प्रकृतियों को भी ग्रहण किया गया है।

आहारक काययोगद्विक, अर्थात् आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग—ये दोनों छठे गुणस्थान में पाये जाते हैं। अतः छठे गुणस्थान के समान इन दोनों योग मार्गणाओं में ६३ प्रकृतियों का बंध होता है।

आहारक काययोग में प्रमत्त और अप्रमत्त विरत ये दो गुणस्थान होते हैं। जब चौदह पूर्वधारी आहारक शरीर करता है, उस समय लब्धि का उपयोग करने से प्रमादयुक्त होता है, तब छठा गुणस्थान होता है। उस समय आहारक शरीर का प्रारम्भ करते समय वह औदारिक के साथ मिश्र होता है। अर्थात् आहारकमिश्र और आहारक इन दो योगों में छठा गुणस्थान होता है, किन्तु बाद में विशुद्धि की शक्ति से सातवें गुणस्थान में आता है, तब आहारकयोग ही होता है। अर्थात् आहारकयोग में छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान तथा आहारकमिश्र काययोग में छठा गुणस्थान होता है। तब छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बन्ध करता है। उक्त प्रकृतियों में शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्ति और असाता वेदनीय इन छह प्रकृतियों को कम करने पर सातवें में ५७ प्रकृतियों का और देवायु का बन्ध न करे तो ५६ प्रकृतियों का बन्ध करता है। पंचसंग्रह सप्ततिका की गाथा १४६ में बताया गया है कि आहारकयोग और आहारकमिश्र काययोग वाले अनुक्रम से ५७ और ६३ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं। यानी आहारक काययोग वाला छठे गुणस्थान में ६३ और सातवें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का बन्ध करता है और आहारकमिश्र काययोग वाला छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बन्ध करता है।

जैसा इस कर्मग्रन्थ में माना है, उसी प्रकार प्राचीन बन्धस्वामित्व

में आहारक काययोगद्विक में छठे गुणस्थान के समान बन्धस्वामित्व माना है; यथा—

'तेउदुगाहारदुगे जहा पमत्तस्स'

—प्राचीन बन्धस्वामित्व, गा० ४२

किन्तु नेमिचन्द्राचार्य अपने ग्रंथ गोम्मटसार कर्मकाण्ड में यद्यपि आहारक काययोग में छठे गुणस्थान के समान ६३ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं, लेकिन आहारकमिश्र काययोग में देवायु का बन्ध नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार ६२ प्रकृतियों का बन्ध होता है—

छट्ठगुणंवाहारे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ।

—गो० कर्मकाण्ड, गा० ११८

अर्थात्—आहारक काययोग में छठे गुणस्थान की तरह बन्धस्वामित्व है परन्तु आहारकमिश्र काययोग में देवायु का बन्ध नहीं होता है।

सारांश यह है कि कर्मग्रन्थ के अनुसार औदारिकमिश्र काययोग में चौथे गुणस्थान के समय ७५ प्रकृतियों का बन्ध होता है, जबकि सिद्धान्त के अनुसार ७० प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है तथा सिद्धान्त में वैक्रियलब्धि और आहारकलब्धि का प्रयोग करते समय भी औदारिकमिश्र काययोग माना है, लेकिन यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गई है। क्योंकि कर्मग्रन्थकार वैसा नहीं मानते हैं, इसलिए पाँचवें और छठे गुणस्थान का बन्ध नहीं कहा है।

सिद्धान्त में जो ७० प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है, उसमें गाथा में आये 'अणचउवीसाइ' पद के आदि शब्द से अन्य पाँच प्रकृतियों का ग्रहण किया जाय तो कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त के मत में कोई शंका नहीं रहती है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य ९४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि २४ और अन्य ५ प्रकृतियों को कम करने से और तीर्थंकरनामकर्मपंचक प्रकृतियों को मिलाने से ७० प्रकृतियों का बन्ध होना युक्तियुक्त हो सकता है।

कार्मण काययोग में भी औदारिक मिश्रयोग के समान बन्ध समझना चाहिए, किन्तु तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन दो प्रकृतियों को कम करने से सामान्य से ११२ प्रकृतियों का बन्ध मानना चाहिए और गुणस्थानों की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७, दूसरे में ६४, चौथे में ७५ और तेरहवें में १ सातावेदनीय का बन्ध होता है।

आहारक काययोगद्विक में गुणस्थान के समान ही बन्ध समझना चाहिये। अर्थात् छठे गुणस्थान में जैसे ६३ प्रकृतियों का बन्ध होता है, वैसे ही इस योग में समझना चाहिए। मतान्तर से ६३. ४७ प्रकृतियों का भी बन्ध कहा गया है। किन्हीं आचार्यों ने ६२ प्रकृतियों का बन्ध आहारकमिश्र काययोग में माना है।

इस प्रकार औदारिक, कार्मण और आहारक काययोग में बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद अब आगे की गाथा में वैक्रिय काययोगद्विक, वेद तथा कषाय मार्गणा के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय भेदों में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

सुरओहो वेउव्वे तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से।
वेयतिगाइम बिय तिय कसाय नव दु चउ पंच गुणा ॥१६॥

गाथार्थ—वैक्रिय काययोग में देवगति के समान तथा वैक्रियमिश्र काययोग में तिर्यंचायु और मनुष्यायु के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध वैक्रिय काययोग के समान तथा वेद और कषाय मार्गणा में क्रमशः वेद मार्गणा में आदि के नौ, अनन्तानुबन्धी कषाय में आदि के दो, द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय में आदि के चार, तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय में आदि के पाँच गुणस्थान की तरह बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

विशेषार्थ—गाथा में वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग तथा वेद और कषाय मार्गणा के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क के बन्धस्वामित्व को बतलाया है।

वैक्रिय काययोग के अधिकारी देव तथा नारक होते हैं। क्योंकि देव और नारकों का उपपातजन्म होता है।[1] उपपातजन्म वालों को वैक्रिय शरीर होता है।[2] इससे इनमें गुणस्थान देवगति के समान ही माने गए हैं और इसका बन्धस्वामित्व भी देवगति के समान ही, अर्थात् सामान्य से १०४, पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का है।

वैक्रियमिश्र काययोग के स्वामी भी वैक्रिय काययोग की तरह देव और नारक होते हैं। अतः इस योग में भी देवगति के समान बन्ध होना चाहिए था। लेकिन इतनी विशेषता समझना चाहिए कि इस योग में आयु का बन्ध असंभव है। क्योंकि यह योग अपर्याप्त अवस्था में ही देवों तथा नारकों के होता है। देव तथा नारक पर्याप्त अवस्था में, अर्थात् छह महीने प्रमाण आयु शेष रहने पर ही परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध करते हैं। इसलिये वैक्रियमिश्र काययोग में तिर्यंचायु और मनुष्यायु के सिवाय बाकी की अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध वैक्रिय काययोग (देवगति) के समान समझना चाहिए।

वैक्रिय काययोग की अपेक्षा वैक्रियमिश्र काययोग में एक और विशेषता समझनी चाहिए कि वैक्रिय काययोग में पहले के चार गुणस्थान होते हैं, जबकि वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान ही होते हैं। क्योंकि यह योग अपर्याप्त अवस्था में होता है। इससे इसमें अधिक गुणस्थान होना

---

१. नारकदेवानामुपपातः। —तत्त्वार्थसूत्र, २।३५

उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले-पहल शरीर रूप में परिणत करना उपपात जन्म है।

२. वैक्रियमौपपातिकम्। —तत्त्वार्थसूत्र २।४७

असंभव है।[1] प्राचीन बन्धस्वामित्व में भी इसी प्रकार माना है—

मिच्छे सासाणे वा अविरयसम्मम्मि अहव गहियम्मि।
जंति जिया परलोए सेसेक्कारसगुणे मोत्तुं॥

अर्थात्—जीव मरकर परलोक में जाते हैं, तब वे पहले, दूसरे या चौथे गुणस्थान को ग्रहण किये हुए होते हैं, परन्तु इन तीनों के सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानों को ग्रहण कर परलोक के लिए कोई जीव गमन नहीं करता। अतएव इसमें सामान्य रूप से १०२, पहले गुणस्थान में १०१, दूसरे में ९४ और चौथे गुणस्थान में ७१ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

वैक्रिय काययोग लब्धि से भी पैदा होता है।[2] जैसा कि पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान अम्बड़ परिव्राजक[3] आदि ने तथा छठे गुणस्थान में वर्तमान विष्णुकुमार आदि मुनि ने वैक्रिय लब्धि के बल से वैक्रिय शरीर किया था। यद्यपि इससे वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग का पाँचवें और छठे गुणस्थान में होना संभव है, तथापि वैक्रिय काययोग वाले जीवों के पहले से लेकर चौथे तक चार गुणस्थान तथा वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान बतलाये गये हैं, उसका कारण यह जान पड़ता है कि यहाँ देव और नारकों के स्वाभाविक भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा है। इसलिए उनके आदि के चार गुणस्थान माने गये हैं। लब्धिप्रत्यय वैक्रिय काययोग की विवक्षा से मनुष्य, तिर्यंच की अपेक्षा अधिक गुणस्थानों में उसकी विवक्षा नहीं है। अर्थात् केवल भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर को लेकर ही वैक्रिय काययोग तथा वैक्रियमिश्र काययोग में क्रम से उक्त चार और तीन गुणस्थान बतलाये हैं।

1. वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु।
सुरणिरयचउट्ठाणे मिस्से णहि मिस्सजोगो हु॥
—गो० जीवकाण्ड ६८२

2. लब्धिप्रत्ययं च। —तत्त्वार्थसूत्र २।४८

3. अम्बड़ परिव्राजक का वर्णन औपपातिक [illegible] ये।

योगमार्गणा के बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब वेद और कषायमार्गणा के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय भेदों का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

वेद के तीन भेद हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। इन तीनों प्रकार के वेदों का उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है।[1] अर्थात् वेद का उदय नौवें गुणस्थानपर्यन्त ही होता है, इसलिए वेद का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार की तरह नौ गुणस्थानों जैसा मानना चाहिए। अर्थात् जैसे बन्धाधिकार में सामान्य से १२०, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५६-५८, आठवें में ५८, ५६ तथा २६ और नौवें में २२ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया है, उसी प्रकार वेदमार्गणा वाले जीवों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पहले, दूसरे—दो गुणस्थानों में ही होता है। इससे इस कषाय में उक्त दो ही गुणस्थान माने जाते हैं। उक्त दो गुणस्थानों के समय न तो सम्यक्त्व होता है और न चारित्र। अतः तीर्थङ्करनामकर्म (जिसका बन्ध सम्यक्त्व से ही होता है) और आहारकद्विक (जिनका बन्ध चारित्र से ही होता है), ये तीन प्रकृतियाँ अनन्तानुबन्धी कषाय वालों के सामान्य बन्ध में वर्जित हैं। अतएव अनन्तानुबन्धी कषाय वाले सामान्य से तथा पहले गुणस्थान में ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायों का उदय पहले चार गुणस्थानपर्यंत होता है। अतः इनमें पहले चार गुणस्थान होते हैं। इन कषायों के समय सम्यक्त्व का संभव होने से तीर्थंकरनाम का बन्ध हो सकता है। लेकिन चारित्र का अभाव होने से आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता है। अतएव इन कषायों में सामान्य से ११८ और

---

१ अणियट्टिस्स य पढमो भागोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
—गो० जीवकांड ६८६

पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय पाँचवें गुणस्थानपर्यन्त होता है। अतः इनमें पहले से लेकर पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त पाँच गुणस्थान माने जाते हैं। यद्यपि इन कषायों के समय सर्वविरति चारित्र न होने से आहारकद्विक का बन्ध नहीं हो सकता है, तथापि सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध हो सकता है। इसलिए सामान्य रूप से ११८ और पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७ और पाँचवें में ६७ प्रकृतियों का बन्ध जानना चाहिए।

कषायमार्गणा में यदि अनन्तानुबन्धी आदि संज्वलनपर्यन्त की अपेक्षा से प्रत्येक का अलग-अलग बन्धस्वामित्व का कथन न कर क्रोध, मान, माया और लोभ—इन सामान्य भेदों में गुणस्थान का कथन किया जाये तो क्रोध, मान, माया—ये तीन कषाय नौवें गुणस्थान के क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे भाग पर्यन्त तथा लोभ कषाय दसवें गुणस्थान तक रहता है इस अपेक्षा से यदि गुणस्थान माने जायें तो कषायमार्गणा में पहले से लेकर दसवें गुणस्थान पर्यन्त दस गुणस्थान होते हैं और उनका बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के अनुसार समझना चाहिये। लेकिन ग्रन्थकार ने यहाँ कषाय मार्गणा में अनन्तानुबन्धी आदि की अपेक्षा से उनका गुणस्थानों में बन्धस्वामित्व का कथन किया है।

सारांश यह है कि वैक्रिय काययोग में बन्धस्वामित्व देवगति के समान, अर्थात् सामान्य से १०४ एवं गुणस्थानों में पहले में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का है और वैक्रियमिश्र काययोग में तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से इनके बिना शेष प्रकृतियों का बन्ध वैक्रिय काययोग के समान समझना चाहिए। जिसका अर्थ यह है कि वैक्रिय मिश्रयोग में सामान्य से बन्धयोग्य १०२ प्रकृतियाँ हैं तथा यह योग

अपर्याप्त अवस्था में होने से तीसरा गुणस्थान नहीं होता है। अतः पहले गुणस्थान में १०१, दूसरे में ६६ और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

वेद का उदय नौवें गुणस्थान तक होता है। अतः बन्धाधिकार में कहे गये अनुसार ही सामान्य से और नौवें गुणस्थान तक बताये गये प्रकृतियों के बन्ध के अनुसार समझना चाहिए।

कषायमार्गणा में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक होता है, अतः गुणस्थानों की अपेक्षा बन्ध तो बन्धाधिकार में बताये गये बन्ध के समान ही होता है, लेकिन सामान्य से १२० की बजाय ११७ का बन्ध होता है, क्योंकि इस कषाय वाले को सम्यक्त्व और चारित्र नहीं होने से तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय चौथे गुणस्थान तक होता है और इस कषाय के समय सम्यक्त्व संभव होने से तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध हो सकता है। अतः सामान्य से बन्धयोग्य ११८ प्रकृतियाँ हैं और गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान ११७, १०१, ७४ और ७७ प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय पाँचवें गुणस्थानपर्यन्त होता है। अतः इसमें पहले से लेकर पाँचवें तक पाँच गुणस्थान होते हैं। इस कषाय के रहने पर सम्यक्त्व हो सकता है, लेकिन सर्वविरति चारित्र न होने से आहारकद्विक का बन्ध नहीं होने से सामान्य रूप से ११८ प्रकृतियों का बन्ध होता है और गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ और ६७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व जानना।

अब आगे की गाथा में कषायमार्गणा की शेष रही संज्वलन कषाय तथा संयम, ज्ञान और दर्शन मार्गणा के बन्धस्वामित्व का कथन करते हैं—

संजलणतिगे नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु पढमा अहखाइ चरमचउ ॥१७॥

गाथार्थ—संज्वलनत्रिक (संज्वलन क्रोध, मान, माया) में नौ गुणस्थान और लोभ संज्वलन लोभ में दस गुणस्थान होते हैं तथा अविरति में चार, अज्ञानत्रिक (मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान) में दो या तीन और अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन में आदि के बारह और यथाख्यातचारित्र में अन्त के चार गुणस्थान होते हैं। अतः उक्त मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार में बताये गये अनुसार सामान्य से और गुणस्थानों में समझना चाहिए।

विशेषार्थ—कषायमार्गणा के अन्तिम भेद संज्वलन कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार भेदों में से क्रोध, मान और माया में नौ और लोभ में दस गुणस्थान होते हैं। अतः इन चारों कषायों का बन्धस्वामित्व सामान्य रूप से और विशेष रूप से गुणस्थानों के समान ही है। अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान, माया का उदय नौवें गुणस्थान तक होता है, अतः उनका बन्धस्वामित्व जैसा बन्धाधिकार में गुणस्थानों की अपेक्षा बतलाया गया है, उसी प्रकार समझना चाहिए। यानी सामान्य से १२० और गुणस्थानों में पहले से लेकर नौवें गुणस्थान तक क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९, ५८ और २२ प्रकृतियों का समझना चाहिए।

संज्वलन लोभ में एक से लेकर दस गुणस्थान होते हैं, अतः इसमें नौवें गुणस्थान तक तो पूर्वोक्त संज्वलनत्रिक के अनुसार बन्धस्वामित्व समझना चाहिए और दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

संयममार्गणा में सामायिक आदि संयम के भेदों के साथ संयम-प्रतिपक्षी असंयम—अविरति को भी माना जाता है। अतः संयम-मार्गणा के भेदों के बन्धस्वामित्व को बतलाने के पहले असंयम—अविरति में बन्धस्वामित्व का कथन करते हैं। अविरति का मतलब

है कि सम्यक्त्व भी हो जाये किन्तु चारित्र का पालन नहीं हो सके। अतः इसमें आदि के चार गुणस्थान होते हैं और चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने के कारण तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध संभव है, परन्तु आहारकद्विक का बन्ध संयमसापेक्ष होने से इनका बन्ध नहीं होता है। इसलिए अविरति में सामान्य रूप से आहारकद्विक के सिवाय ११८, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

ज्ञानमार्गणा में ज्ञान और अज्ञान—दोनों को माना जाता है। इनमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान ये ज्ञान के पाँच भेद हैं। इनमें मति, श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत भी होते हैं।[1] अर्थात्—अज्ञान के मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अवधि-अज्ञान— ये तीन भेद होते हैं। ज्ञानमार्गणा के इन आठ भेदों में से यहाँ अज्ञानत्रिक का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

अज्ञानत्रिक में आदि के दो या तीन गुणस्थान होते हैं। इनके सामान्य बन्ध में से तीर्थंकरनामकर्म और आहारकद्विक ये तीन प्रकृतियाँ कम कर देना चाहिए। क्योंकि अज्ञान का कारण मिथ्यात्व है और इन अज्ञानत्रिक में मिथ्यात्व का सद्भाव रहता है, जिससे सामान्य से तथा पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे में ७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान माने जाने का आशय यह है कि तीसरे गुणस्थान में वर्तमान जीव की दृष्टि सर्वथा शुद्ध या अशुद्ध नहीं होती है, किन्तु शुद्ध कुछ और कुछ अशुद्ध तथा किसी अंश में अशुद्धमिश्र होती है। इस मिश्रदृष्टि के अनुसार उन जीवों का ज्ञान भी मिश्र रूप—किसी अंश में ज्ञान रूप तथा किसी अंश में अज्ञान रूप माना जाता है। जब उसमें शुद्धता अधिक होती है, तब दृष्टि की शुद्धि की अधिकता के कारण और अशुद्धि की कमी के कारण

---

[1] मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। —तत्त्वार्थसूत्र, १।३२

मिश्रज्ञान में ज्ञान की मात्रा अधिक होती है और अज्ञान की मात्रा कम होती है, तब इस प्रकार के मिश्र ज्ञान से युक्त जीवों की गिनती ज्ञानी जीवों में भी की जा सकती है, लेकिन वह है अज्ञान ही। इस दृष्टि से उस समय पहले और दूसरे दो गुणस्थानों में जीव को ही अज्ञानी समझना चाहिए।

परन्तु जब दृष्टि में अशुद्धि की अधिकता के कारण मिश्रज्ञान में अज्ञान की मात्रा अधिक होती है और शुद्धि की कमी के कारण ज्ञान की मात्रा कम तब उस मिश्रज्ञान को अज्ञान मानकर मिश्र-ज्ञानी जीवों की गिनती अज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव उस समय पहले, दूसरे और तीसरे—इन तीन गुणस्थानों सम्बन्धी जीव को अज्ञानी समझना चाहिए।

उक्त दोनों स्थितियों का कारण यह है कि जो जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आता है, तब मिश्रदृष्टि में मिथ्या-त्वांश अधिक होने से अशुद्धि विशेष होती है और जब सम्यक्त्व छोड़-कर तीसरे गुणस्थान में आता है, तब मिश्रदृष्टि में सम्यक्त्वांश अधिक होने से शुद्धि विशेष रहती है। इसीलिए अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान माने जाते हैं।

यहाँ अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान मानने विषयक मतान्तर का दिग्दर्शन किया गया है। कर्मग्रन्थकार सास्वादन को अज्ञान ही मानते हैं। पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होने से अज्ञान ही है और बाकी रहा मिश्र, वहाँ भी मोहनीयकर्म का उदय होता है। वहाँ यथास्थित तत्त्व का बोध नहीं होने से कितने ही आचार्य अज्ञान रूप ही मानते हैं। क्योंकि पंचसंग्रह में कहा है मिश्र में ज्ञान से मिश्रित अज्ञान ही होते हैं, शुद्ध ज्ञान नहीं होते हैं। यहाँ शुद्ध सम्यक्त्व की अपेक्षा से ही ज्ञान माना गया है। यदि अशुद्ध सम्यक्त्व वाले को ज्ञान मानें तो सास्वादन को भी ज्ञान मानना पड़ेगा। किन्तु कर्मग्रन्थकारों को यह इष्ट नहीं है, क्योंकि कर्मग्रन्थ में सास्वादन को अज्ञान होता है, ऐसा कहा है। इस अपेक्षा

से तीन गुणस्थान होते हैं। जबकि कितनेक आचार्य मिश्रमोहनीय पुद्गलों में मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल अधिक हों तो अज्ञान अधिक और ज्ञान अल्प तथा सम्यक्त्वमोहनीय के पुद्गल अधिक हों तो ज्ञान अधिक और अज्ञान अल्प ऐसा मानते हैं और दोनों दृष्टि में ज्ञान का लेश-अंश मिश्र गुणस्थान में मानते हैं। इसलिए उस अपेक्षा से अज्ञानत्रिक में प्रथम दो गुणस्थान ही होते हैं। (यह कथन जिन-वल्लभीय षडशीतिका की टीका में किया गया है।) इस प्रकार से दो अथवा तीन गुणस्थान कर्मग्रन्थकारों के मतानुसार होते हैं।

ज्ञानमार्गणा के अज्ञानत्रिक का बन्धस्वामित्व यहाँ बतलाया गया है। शेष मतिज्ञानादि पाँच भेदों का बन्धस्वामित्व आगे बत-लाया जायगा। अब दर्शन मार्गणा के भेद चक्षुदर्शन और अचक्षु-दर्शन का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन इन दो दर्शनों में पहले से लेकर बारह गुणस्थान होते हैं। क्योंकि ये दोनों क्षायोपशमिक भाव हैं और क्षायोपशमिक भाव बारह गुणस्थान पर्यन्त होते हैं। अतः इनका बन्धस्वामित्व सामान्य रूप से तथा प्रत्येक गुणस्थान में बन्धा-धिकार के समान है। अर्थात् बन्धाधिकार में जैसे सामान्य से १२० और गुणस्थानों में पहले में ११७ आदि गुणस्थान के क्रम से लेकर बारहवें गुणस्थानपर्यन्त बन्ध बतलाया गया है, इसी प्रकार चक्षु-दर्शन और अचक्षुदर्शन मार्गणा में बन्ध समझना चाहिए।

यथाख्यात चारित्र अंतिम चार गुणस्थानवर्ती जीवों में होता है। अतः ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक—ये चार गुण-स्थान होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में तो योग का अभाव होने से बन्ध होता ही नहीं है। किन्तु ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में बन्ध के कारण योग का सद्भाव होता है। अतः योग के निमित्त से बँधने वाली सिर्फ एक प्रकृति—सातावेदनीय का बन्ध होता है। इसलिए इस चारित्र में सामान्य और विशेष से एक प्रकृति का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

सारांश यह है कि कषायमार्गणा के चौथे भेद संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ में से क्रोध, मान, माया नौवें गुणस्थान तक रहती है। अतः इन तीनों के पहले से लेकर नौ गुणस्थान होते हैं तथा लोभ दसवें गुणस्थानपर्यन्त रहता है। अतः इनका बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार में बताये गये सामान्य व गुणस्थानों के अनुसार समझना चाहिए।

संयममार्गणा के भेद अविरति में आदि के चार गुणस्थान होते हैं। चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने के कारण तीर्थङ्करनामकर्म का बन्ध संभव है, परन्तु आहारकद्विक का बन्ध संयमसापेक्ष होने से नहीं होता है। अतः अविरति में सामान्य से आहारकद्विक के सिवाय ११८ प्रकृतियों का तथा गुणस्थानों में पहले में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान होते हैं। इसलिए इसके सामान्य बन्ध में से तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों को कम कर लेना चाहिए। अतः सामान्य से और पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे में ७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन—इनमें आदि के बारह गुणस्थान होते हैं और इनका बन्धस्वामित्व सामान्य से एवं गुणस्थान की अपेक्षा गुणस्थानों के समान समझना चाहिए।

यथाख्यात चारित्र में ग्यारह से चौदह अंतिम चार गुणस्थान होते हैं और चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव होने से बन्ध नहीं होता और शेष तीन—ग्यारह, बारह और तेरह इन तीन गुणस्थानों में सिर्फ एक सातावेदनीय का बन्ध होता है।

इस प्रकार कषायमार्गणा के संज्वलनचतुष्क और संयममार्गणा के अविरति और यथाख्यात चारित्र, ज्ञानमार्गणा के अज्ञान-

मिक, दर्शनमार्गणा के चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन में बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद आगे की गाथा में संयममार्गणा और ज्ञान-मार्गणा के मतिज्ञान आदि भेदों में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥१८॥

गाथार्थ—मनःपर्याय ज्ञान में प्रमत्तसंयत आदि अर्थात् छठे से लेकर बारहवें गुणस्थानपर्यन्त सात तथा सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान एवं परिहारविशुद्धि चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान होते हैं। केवलद्विक में अन्तिम दो गुणस्थान तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक में अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर नौ गुणस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में ज्ञानमार्गणा के भेदों—मनःपर्यायज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, केवलज्ञान, संयममार्गणा के सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि चारित्र, दर्शनमार्गणा के अवधिदर्शन और केवलदर्शन में बन्धस्वामित्व का कथन किया गया है। इनका विशद अर्थ गाथा में बताये गये क्रम के अनुसार किया जाता है।

मनःपर्यायज्ञान में छठे गुणस्थान—प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीण-कषायपर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं। यद्यपि मनःपर्यायज्ञान का आविर्भाव सातवें गुणस्थान में होता है, परन्तु इसकी प्राप्ति के बाद मुनि प्रमादवश छठे गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है तथा इस ज्ञान के धारक मिथ्यात्व आदि पाँच गुणस्थानों में वर्तमान नहीं रहते हैं तथा यह क्षायोपशमिक होने से अंतिम गुणस्थान—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में नहीं रहता है, क्योंकि क्षायिक अवस्था में क्षायोपशमिक स्थिति रहना असंभव है। इसलिए मनःपर्याय ज्ञान में छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक माने जाते हैं। इसमें आहारक-

द्विक का भी बन्ध संभव है। इसलिए इस ज्ञान में सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का तथा छठे से लेकर बारहवें गुणस्थानपर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। अर्थात मनःपर्यायज्ञानमार्गणा में सामान्य से ६५ प्रकृतियों का और छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक छठे में ६३, सातवें में ५६।५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१९। १८, दसवें में १७, ग्यारहवें में १, बारहवें में १ प्रकृति का बन्ध समझना चाहिए।

सामायिक और छेदोपस्थानीय ये दो संयम छठे, सातवें, आठवें और नौवें इन चार गुणस्थानों में पाये जाते हैं। इन संयमों के समय आहारकद्विक का बन्ध होना भी संभव है। अतः सामान्य से ६५ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं और गुणस्थानों की अपेक्षा छठे आदि प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही बन्ध समझना चाहिए। अर्थात् छठे में ६३, सातवें में ५६।५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१९।१८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

परिहारविशुद्धि संयमी सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों को नहीं पा सकता है। अतः यह संयम सिर्फ छठे और सातवें गुणस्थान में ही होता है। इस संयम के समय यद्यपि आहारकद्विक का उदय नहीं होता, क्योंकि परिहारविशुद्धि संयमी को दस पूर्व का भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता और आहारकद्विक का उदय चतुर्दशपूर्वधर के संभव है; तथापि इसको आहारकद्विक का बन्ध संभव है। इसलिए बन्ध-स्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धाधिकार के समान, अर्थात् छठे गुणस्थान में ६३ और सातवें में ५६ या ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

केवलद्विक अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन में तेरहवाँ और चौदहवाँ ये दो गुणस्थान होते हैं। लेकिन उक्त दो गुणस्थानों में से चौदहवें गुणस्थान में बन्ध के कारणों का अभाव हो जाने से किसी भी कर्मप्रकृति का बन्ध नहीं होता है, लेकिन तेरहवें गुणस्थान

में होता है, और वह बन्ध सिर्फ सातावेदनीय का होता है। इसलिए इन दोनों में सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा बन्धस्वामित्व एक ही प्रकृति का है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान और अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओं में पहले के तीन गुणस्थान तथा अंतिम दो गुणस्थान नहीं होते हैं। अर्थात् चौथे अविरत से लेकर बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते हैं। आदि के तीन गुणस्थान न होने का कारण यह है कि ये चारों सम्यक्त्व के होने पर यथार्थ माने जाते हैं और आदि के तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व नहीं होता है तथा अन्तिम दो गुणस्थान न होने का कारण यह है कि उनमें क्षायिक ज्ञान होता है, क्षायोपशमिक नहीं। इसलिए इन चारों में चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक कुल नौ गुणस्थान माने जाते हैं। इन चारों मार्गणाओं में भी आहारकद्विक का बन्ध संभव होने से सामान्य से ७९ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। अर्थात् चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों में आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग—इन दो प्रकृतियों को और जोड़ने से सामान्य की अपेक्षा ७९ प्रकृतियों का बन्ध होता है और गुणस्थानों की अपेक्षा चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५९।५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१९।१८, दसवें में १७, ग्यारहवें में १, बारहवें में १ प्रकृति का बन्ध समझना चाहिए।

सारांश यह है कि मनःपर्याय ज्ञानमार्गणा में छठे से लेकर बारहवें गुणस्थानपर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं और इसमें आहारकद्विक का बन्ध संभव होने से सामान्यतया ६५ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धाधिकार के समान छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध समझना चाहिए।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय ये दो संयम छठे से लेकर नौवें तक चार गुणस्थान पर्यन्त होते हैं तथा इनमें आहारकद्विक का भी बन्ध संभव है। अतः इन दोनों में बन्धस्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का और छठे से लेकर नौवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही है।

परिहारविशुद्धि संयम वाले के छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान होते हैं। यद्यपि इस संयम के समय आहारकद्विक का उदय नहीं होता है, किन्तु बन्ध संभव है। अतः इसका बन्धस्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का और विशेष रूप से बन्धाधिकार के समान छठे गुणस्थान में ६३ और सातवें में ५६ या ५८ प्रकृतियों का होता है।

केवलद्विक—केवलज्ञान और केवलदर्शन—में अन्तिम दो गुणस्थान—तेरहवाँ और चौदहवाँ होते हैं। लेकिन उक्त दो गुणस्थानों में से चौदहवें गुणस्थान में बन्ध के कारणों का अभाव होने से बन्ध नहीं होता है और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इसलिए इसका सामान्य और विशेष बन्ध एक सातावेदनीय प्रकृति का ही है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान और अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओं में पहले तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व नहीं होने से तथा अन्तिम दो गुणस्थान क्षायिकभाव वाले होने से और इन चारों के क्षायोपशमिक भाव वाले होने से चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। इन चार मार्गणाओं में आहारकद्विक का बन्ध सम्भव होने से सामान्य से ७६ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा चौथे से लेकर बारहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

इस प्रकार के ज्ञानमार्गणा के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान तथा दर्शनमार्गणा के अवधिदर्शन और केवलदर्शन तथा संयममार्गणा के सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि भेद

में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व का कथन किया जा चुका है। अब आगे की गाथा में सम्यक्त्व मार्गणा तथा संयम मार्गणा के शेष भेदों और आहारक मार्गणा में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

अड उवसमि चउ वेयगि खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमि सठाणं तेरस आहारगि नियनियगुणोहो ॥१६॥

गाथार्थ—उपशम सम्यक्त्व में आठ, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चार, क्षायिक सम्यक्त्व में ग्यारह, मिथ्यात्वत्रिक और देशचारित्र, सूक्ष्मसंपराय संयम में अपने-अपने नाम वाले एक-एक गुणस्थान होते हैं तथा आहारक मार्गणा में तेरह गुणस्थान होते हैं और सामान्य से अपने-अपने गुणस्थान के समान बन्ध समझना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा में सम्यक्त्व मार्गणा के उपशम, वेदक (क्षायोपशमिक), क्षायिक, मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र तथा संयम मार्गणा के देशविरत, सूक्ष्मसंपराय एवं आहारक मार्गणा का बन्धस्वामित्व बतलाया गया है।

उपशमश्रेणि को प्राप्त हुए अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक को उपशमित करने वाले जीवों को उपशम सम्यक्त्व होता है। यह उपशम सम्यक्त्व अविरत सम्यक्त्व के सिवाय देशविरति, प्रमत्तसंयतविरति या अप्रमत्तसंयतविरति गुणस्थानों में तथा इसी प्रकार आठवें से लेकर ग्यारहवें तक चार गुणस्थानों में वर्तमान उपशम श्रेणी वाले जीवों को रहता है। इसी कारण इस सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक कुल आठ गुणस्थान कहे गये हैं।

इस सम्यक्त्व के समय आयु का बन्ध नहीं होता है। इससे चौथे गुणस्थान में देव और मनुष्यायु इन दोनों का बन्ध नहीं होता है और पाँचवें आदि गुणस्थान में देवायु का बन्ध नहीं होता है।

अतएव इस सम्यक्त्व में सामान्य रूप से ७५ प्रकृतियों का तथा चौथे गुणस्थान में ७५, पाँचवें में ६६, छठे में ६२, सातवें में ५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१९।१८, दसवें में १७ और ग्यारहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का बन्धस्वामित्व बताया है।

वेदकसम्यक्त्व का दूसरा नाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी उदय-प्राप्त मिथ्यात्व का क्षय और अनुदय-प्राप्त का उपशम करता है। इसीलिए इसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में होता है। इसमें आहारकद्विक का बन्ध भी संभव है, अतः इसका बन्ध-स्वामित्व सामान्य से ७९ प्रकृतियों का और विशेष रूप से गुणस्थान की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३ और सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का है। उसके बाद श्रेणी का प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए उपशम श्रेणी में उपशम सम्यक्त्व और क्षपक श्रेणी में क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में यह विशेषता है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी मिथ्यात्वमोहनीय के प्रदेशोदय का अनुभव करता है, और उपशम सम्यक्त्वी विपाकोदय तथा प्रदेशोदय दोनों का ही अनुभव नहीं करता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल होते हैं, इसीलिए उसे वेदक कहा जाता है। सारांश यह है कि औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के दलिकों का विपाक और प्रदेश से भी वेदन नहीं होता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेश की अपेक्षा वेदन होता है।

संसार के कारणभूत तीनों प्रकार के दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व में चौथे से लेकर चौदहवें तक ग्यारह गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक का बन्ध हो सकता है। इसलिये सामान्य रूप से इसका बन्धस्वामित्व ७९ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान है। अर्थात् अविरत में ७७, देशविरत में

६७, प्रमत्तविरत में ६३, अप्रमत्तविरत में ५९ या ५८, अपूर्वकरण में ५८।५६।२६, अनिवृत्तिकरण में २२।२१।२०।१९।१८, सूक्ष्मसंपराय में १७ तथा उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगि गुणस्थान में १-१ प्रकृति का बन्ध समझना चाहिये और अयोगि गुणस्थान अबन्धक होता है।

मिथ्यात्वत्रिक यानी मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्रदृष्टि, ये तीनों सम्यक्त्व मार्गणा के अवान्तर भेद हैं। इनमें अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान होता है। अर्थात् मिथ्यात्व में पहला मिथ्यात्व गुणस्थान, सास्वादन में दूसरा सास्वादन गुणस्थान और मिश्रदृष्टि में तीसरा मिश्र गुणस्थान होता है। अतएव इन तीनों का सामान्य व विशेष बन्धस्वामित्व इन-इन गुणस्थानों के बन्धस्वामित्व के समान ही समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य और विशेष रूप से मिथ्यात्व में ११७, सास्वादन में १०१ और मिश्र गुणस्थान में ७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व होता है।

देशविरत और सूक्ष्मसंपराय ये दो संयममार्गणा के भेद हैं और इन दोनों संयमों में अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान होता है। यानी देशविरति संयम केवल पाँचवें गुणस्थान में और सूक्ष्मसंपराय केवल दसवें गुणस्थान में होता है। अतएव इन दोनों का बन्धस्वामित्व भी अपने-अपने नाम वाले गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही है। अर्थात् सामान्य और विशेष रूप से देशविरति का बन्धस्वामित्व ६७ प्रकृतियों का और सूक्ष्मसंपराय का बन्धस्वामित्व १७ प्रकृतियों का है।

समय-समय जो आहार करे उसे आहारक (आहारी) कहते हैं। जितने भी संसारी जीव हैं, वे जब तक अपनी-अपनी आयुष्य के कारण संसार में रहते हैं, अपने-अपने योग्य कर्मों का आहरण करते रहते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव आहारक हैं और इन सब जीवों का ग्रहण आहारमार्गणा में किया जाता है। अतएव इसमें पहले

मिथ्यात्व से लेकर तेरहवें सयोगि केवली गुणस्थान तक तेरह गुण-स्थान माने जाते हैं। इस मार्गणा में विद्यमान जीवों के सामान्य से तथा विशेष से अपने-अपने प्रत्येक गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। जैसे कि बन्धाधिकार में सामान्य से १२० प्रकृतियों का बन्ध बताया गया है, वैसे ही आहार-मार्गणा में भी १२० प्रकृतियों का तथा गुणस्थानों की अपेक्षा पहले में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५६ या ५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१। २०।१६।१८, दसवें में १७, ग्यारहवें में १, बारहवें में १, और तेरहवें में १ प्रकृति का बन्ध समझना चाहिए।

सारांश यह है कि सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीन भेद हैं। उनमें से औपशमिक सम्यक्त्व, उपशम भाव चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानपर्यन्त आठ गुणस्थान तक रहता है, इसलिए उपशम सम्यक्त्व मार्गणा में आठ गुणस्थान माने जाते हैं। उप-शम सम्यक्त्व के समय आयुबन्ध नहीं होता है, अतः सामान्य की अपेक्षा ७५ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

वेदक सम्यक्त्व (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व) चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में होता है। इसके बाद श्रेणी प्रारंभ हो जाती है और श्रेणी दो प्रकार की है—उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। अतः क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक का बन्ध होना संभव है। इसलिए इसका सामान्य से बन्धस्वामित्व ७६ प्रकृतियों का और गुण-स्थानों की अपेक्षा बन्धाधिकार के समान चौथे से लेकर सातवें गुण-स्थान तक का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौदहवें गुणस्थान तक ग्यारह गुणस्थानों में पाया जाता है। इसमें भी आहारकद्विक का बन्ध संभव होने से सामान्य से ७६ प्रकृतियों का

और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धाधिकार के समान चौथे से लेकर चौदहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार समझना चाहिए।

मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र—ये तीनों भी सम्यक्त्व मार्गणा के भेद हैं और इनमें अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान होता है। अतएव इन तीनों का सामान्य तथा विशेष बन्ध अपने-अपने नाम वाले गुणस्थान के समान समझना चाहिए।

संयममार्गणा के देशविरति और सूक्ष्मसंपराय संयम में अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान, अर्थात् देशविरति में देशविरत नामक पाँचवाँ और सूक्ष्मसंपराय में सूक्ष्मसंपराय नामक दसवाँ गुणस्थान होता है। अतएव इन दोनों का बन्धस्वामित्व भी इन-इन गुणस्थान के समान सामान्य और विशेष रूप से समझना चाहिए।

आहारकमार्गणा में मोक्ष न होने से पूर्व तक के सभी संसारी जीवों का ग्रहण किया जाता है। अतएव इस मार्गणा में पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान हैं। इस मार्गणा में सामान्य से तथा प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

इस प्रकार से सम्यक्त्वमार्गणा व संयममार्गणा के कुछ भेदों तथा आहारमार्गणा में सामान्य और विशेष से बन्धस्वामित्व का कथन करने के पश्चात अब सम्यक्त्वमार्गणा के भेद उपशम सम्यक्त्व की विशेषता को आगे की गाथा में बताते हैं—

परमुवसमि वट्टंता आउ न बंधंति तेण अजयगुणे।
देवमणुआउहीणो देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥२०॥

गाथार्थ – उपशम सम्यक्त्व में वर्तमान जीव आयुबन्ध नहीं करते हैं। इसलिए अयत – अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में देवायु और मनुष्यायु को छोड़कर अन्य प्रकृतियों का बन्ध होता है तथा

देशविरति आदि गुणस्थानों में देवायु के बिना अन्य स्वयोग्य प्रकृतियों का बन्ध होता है।[1]

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में सम्यक्त्व मार्गणा के उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भेदों में बन्धस्वामित्व बतलाया गया है। उनमें से उपशम सम्यक्त्व के चौथे से लेकर ग्यारहवें तक आठ गुणस्थान बतलाये गये हैं और सामान्य एवं गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व का कथन किया गया है। लेकिन उपशम सम्यक्त्व में यह विशेषता है कि इसमें वर्तमान जीव के अध्यवसाय ऐसे नहीं होते हैं, जिनसे आयु का बन्ध किया जा सके। क्योंकि उपशम सम्यक्त्व दो प्रकार का है—(१) ग्रन्थिभेदजन्य तथा (२) उपशम श्रेणी में होने वाला। इनमें से ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व अनादि मिथ्यात्वी जीव को होता है और उपशम श्रेणी वाला आठवें से ग्यारह—इन चार गुणस्थानों में होता है।

उक्त दोनों प्रकारों में से उपशम श्रेणी सम्बन्धी गुणस्थानों में आयु का बन्ध सर्वथा वर्जित है। क्योंकि आयुबन्ध सातवें गुणस्थान तक होता है, उससे आगे नहीं।

ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है। लेकिन इन गुणस्थानों में औपशमिक सम्यक्त्वी आयु-

---

१. इस गाथा के विषय की स्पष्टता के लिए प्राचीन बन्धस्वामित्व (गा० ५१, ५२) में कहा है—

उवसम्मे वट्टन्ता चउण्हमिक्कंपि आउयं नेयं।
बंधंति तेण अजया सुरनरआउहिं अणत्थु॥
ओघो देस अजइसु सुराउहीणो उ जाव उवसन्तो।

उपशम सम्यक्त्व में वर्तमान जीव चारों में से एक भी आयु का अविरत सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध नहीं करता है। इसलिए औपशमिक अविरत सम्यग्दृष्टि देवायु और मनुष्यायु का बन्ध नहीं करते हैं तथा देशविरति आदि में देवायु का बन्ध नहीं करते हैं।

बन्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय का बन्ध, उसका उदय, आयु का बन्ध और मरण इन चार कार्यों को सास्वादन सम्यक्त्वी कर सकता है, परन्तु इनमें से एक भी कार्य उपशम सम्यग्दृष्टि नहीं कर सकता है।[1] अतः उपशम सम्यक्त्व के समय आयुबन्धयोग्य परिणाम नहीं होते हैं। अतएव उपशम सम्यक्त्व के योग्य आठ गुणस्थानों में से चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यग्दृष्टि को देवायु और मनुष्यायु इन दो का वर्जन इसलिए किया कि उसमें इन दो आयुओं का बन्ध संभव है, अन्य आयुओं का बन्ध नहीं। क्योंकि चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक मनुष्यायु को और तिर्यंच तथा मनुष्य देवायु को ही बाँध सकते हैं। इसलिए सामान्य से बन्धाधिकार में जो चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया गया है, उसके स्थान पर उपशम सम्यग्दृष्टि ७५ प्रकृतियों का बन्ध करता है।

उपशम सम्यग्दृष्टि के पाँचवें आदि गुणस्थानों के बन्ध में केवल देवायु को छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि उन गुणस्थानों में केवल देवायु का बन्ध संभव है। क्योंकि पाँचवें गुणस्थान के अधिकारी तिर्यंच और मनुष्य हैं और छठे एवं सातवें गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य ही हैं, जो केवल देवायु का ही बन्ध कर सकते हैं। सामान्य बन्ध में से मनुष्यायु पहले ही कम की जा चुकी है। अतएव उपशम सम्यग्दृष्टि के देशविरत में ६६, प्रमत्तविरत में ६२ और अप्रमत्तविरत में ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सारांश यह है कि उपशम सम्यक्त्व ग्रन्थिभेदजन्य और उपशम श्रेणीगत के भेद दो प्रकार का है। उनमें से ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक और श्रेणीगत में आठवें से लेकर ग्यारहवें तक कुल आठ गुणस्थान होते हैं। इनमें से उपशम श्रेणीगत

---

1. अणबन्धोदयमाउगबन्धं कालं च सासणो कुणई।
   उवसमसम्मद्दिट्ठी चउण्हमिक्कंपि नो कुणई॥

गुणस्थानों में तो आयुबन्ध होता ही नहीं है। क्योंकि आयुबन्ध के योग्य अध्यवसाय सातवें गुणस्थान तक ही होते हैं और इन गुणस्थानों में भी ऐसे अध्यवसाय नहीं होते हैं कि जिनसे आयुबन्ध हो सके। इसलिए चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्ध न होने की बजाय चौथे में ७५, पांचवें में ६६, छठे में ६२ और सातवें में ५८ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से सम्यक्त्वमार्गणा के भेद उपशम सम्यक्त्व सम्बन्धी विशेषता बतलाने के बाद अब आगे की दो गाथाओं में लेश्यामार्गणा का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

> ओहे अट्ठारसयं आहारदुगूण आइलेसतिगे।
> तं तित्थोणं मिच्छे साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥२१॥
> तेऊ नरयनवूणा उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का।
> विणु नरयबार पम्हा अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥२२॥

गाथार्थ—आदि की तीन—कृष्ण, नील, कापोत—लेश्याओं में आहारकद्विक को छोड़ कर शेष ११८ प्रकृतियों का सामान्य बन्धस्वामित्व है। उनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति कम और सास्वादन आदि तीन गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। तेजोलेश्या का बन्धस्वामित्व नरकनवक के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का है तथा उद्योतचतुष्क एवं नरकद्वादश इन सोलह प्रकृतियों को छोड़कर अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध शुक्ललेश्या में होता है तथा पद्मलेश्या में उक्त नरकद्वादश के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का बन्ध होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तेज आदि उक्त तीन लेश्याओं में बन्धस्वामित्व तीर्थंकरनामकर्म और आहारकद्विक को छोड़कर समझना चाहिए।

विशेषार्थ—इन दोनों गाथाओं में लेश्यामार्गणा का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं। लेश्याओं के छह भेद हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेज, (५) पद्म और (६) शुक्ल। योगान्तर्गत कृष्णादि-

द्रव्य के सम्बन्ध से आत्मा के जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं। कषाय उसकी सहकारी है। कषाय की जैसी-जैसी तीव्रता होती है, वैसी-वैसी लेश्याएँ अशुभ से अशुभतर होती हैं और कषाय की जैसी-जैसी मन्दता होती है, वैसे-वैसे लेश्याएँ विशुद्ध से विशुद्धतर होती हैं। जैसे कि अनन्तानुबन्धी कषाय के तीव्रतम उदय होने पर कृष्णलेश्या होती है और मन्द उदय होने पर शुक्ल लेश्या होती है।

कहीं-कहीं देवों और नारकों के शरीर के वर्णरूप लेश्या मानी है। क्योंकि उनकी लेश्याएँ अवस्थित होती हैं। सातवें नरक में सम्यक्त्व-प्राप्ति मानी है। वहाँ द्रव्य की अपेक्षा कृष्णलेश्या भी मानी है और सम्यक्त्व की प्राप्ति शुभलेश्याओं में ही होती है। जब ऐसा है तो कृष्णलेश्या में रहने वाले जीव को सम्यक्त्व कैसे हो सकता है ? इसके लिए ऐसा माना जाता है कि द्रव्यलेश्या शरीर के वर्णरूप होती हैं किन्तु भावलेश्या उससे भिन्न भी हो सकती है और उससे सातवें नरक के नारकों के सम्यक्त्व-प्राप्ति के समय विशुद्ध भावलेश्या होती है, किन्तु द्रव्य से तो कृष्णलेश्या होती है अर्थात् प्रतिबिम्ब रूप से तेजोलेश्या सरीखी होती है। तात्पर्य यह है कि देव और नारकों की लेश्याएँ अवस्थित होती है, परन्तु शरीर के वर्णरूप द्रव्यलेश्याएँ होती है और भाव की अपेक्षा वे लेश्याएँ उस-उस समय के भावानुसार होती हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि तीसरे कर्मग्रन्थ में कृष्ण, नील, कापोत—इन तीन लेश्याओं में मिथ्यात्वादि चार गुणस्थान और चौथे कर्मग्रन्थ में 'पढमतिलेसासु छच्च' (गाथा २३) द्वारा छह लेश्याएँ बतलाई हैं। तो इसका समाधान यह है कि पूर्वप्राप्त (पहले से पाये हुए) पाँचवें, छठे गुणस्थान वाले के कृष्णादिक तीन लेश्याएँ हो सकती हैं, किन्तु कृष्णादिक तीन लेश्या वाले पाँचवाँ, छठा गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः इस दृष्टि से चार और

छह गुणस्थान कृष्णादि तीन लेश्या वालों के होने में कोई विरोध नहीं है। जैसे कि—

> सम्मत्त सुयं सव्वासु लहइ, सुद्धासु तिसु य चारित्तं ।
> पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए ॥

सम्यक्त्व श्रुत सर्व लेश्याओं में होता है और चारित्र तीन शुभ लेश्याओं—तेज, पद्म और शुक्ल में प्राप्त होता है तथा पूर्वप्रतिपन्न (सम्यक्त्वादि सामायिक, श्रुत सामायिक, देशविरति सामायिक, सर्वविरति चारित्र सामायिक ये पूर्व में प्राप्त हुए हों वैसे) जीव छह में से किसी भी लेश्या में होते हैं।

उक्त कृष्ण आदि छह लेश्याओं में से कृष्ण, नील, कापोत—इन तीन लेश्या वालों के आहारकद्विक का बंध नहीं होता है। क्योंकि आहारकद्विक का बन्ध सातवें गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थानों में नहीं होता है तथा उक्त कृष्णादि तीन लेश्या वाले अधिक-से-अधिक छह गुणस्थानों तक पाये जाते हैं। अतएव उनके सामान्य से ११८ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा पहले गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का बन्ध माना है।

कृष्णादि तीन लेश्याओं में चौथे गुणस्थान के समय ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व 'साणाइसु सव्वहिं ओहो' इस कथन के अनुसार माना है और इसी प्रकार प्राचीन बन्धस्वामित्व में भी उल्लेख किया गया है—

> सुरनरआउयसहिया अविरयसम्माउ होंति नायव्वा ।
> तित्थयरेण जुया तह तेउलेसे परं वोच्छं ॥४२॥

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कृष्णादि तीन लेश्याओं के चतुर्थ गुणस्थान की ७७ प्रकृतियों में मनुष्यायु की तरह देवायु की गिनती है। इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी वेदमार्गणा से लेकर आहारकमार्गणा पर्यन्त सब मार्गणाओं का बन्धस्वामित्व गुण-

स्थान के समान कहा है[1] और चतुर्थ गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध स्पष्ट रूप से माना है।[2]

इस प्रकार कर्मग्रन्थकार कृष्णादि तीन लेश्याओं में चतुर्थ गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं, जबकि सिद्धान्त की अपेक्षा इसमें मतभिन्नता है। सिद्धान्त में बतलाया गया है कि कृष्णादि तीन लेश्याओं के चौथे गुणस्थान में जो आयु का बन्ध कहा है, वहाँ एक ही मनुष्यायु का बन्ध सम्भव है। क्योंकि नारक, देव तो मनुष्यायु को बाँधते हैं, परन्तु मनुष्य और तिर्यंच देवायु को नहीं बाँधते हैं। क्योंकि जिस लेश्या में आयुबन्ध हो, उसी लेश्या में उत्पन्न होना चाहिए और सम्यग्दृष्टि तो वैमानिक देवों का ही आयु बाँधते हैं और वैमानिक देवों में कृष्ण, नील एवं कापोत लेश्या नहीं है. अशुभ लेश्या वाले सम्यग्दृष्टि देवायु का बन्ध नहीं करते हैं। इस सम्बन्ध में 'भगवती' शतक ३०, उद्देशक १, का पाठ यह है—

'कण्हलेस्साणं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति। अकिरिया अन्नाणिय वेणइयवादी य चत्तारिवि आउयं पकरेंति। एवं णील लेस्सावि काउलेस्सावि।

'कण्हलेस्साणं भंते ! किरियावादी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पुच्छा ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति णो मणुस्साउयं पकरेंति णो देवाउयं पकरेंति। अकिरियावादी अन्नाणियवादी वेणइयवादी चउव्विहंपि पकरेंति। जहा कण्हलेस्सा एवं णीललेस्सावि काउलेस्सावि।

'जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया भणिया एवं मणुस्साणवि भाणियव्वा।'

---

१ वेदाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघं तु।

—गो० कर्मकांड, ११९

२ गो० कर्मकांड, गा० १०३

'हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि)[1] जीव क्या नरकायु का बन्ध करते हैं ; इत्यादि ? हे गौतम ! नरक आयु को नहीं बाँधते हैं, तिर्यंच आयु को नहीं बाँधते हैं, मनुष्यायु को बाँधते हैं, देवायु को नहीं बाँधते हैं, और अक्रियावादी आदि मिथ्यादृष्टि चारों आयु का बन्ध करते हैं। इसी प्रकार नील और कापोत लेश्या वालों के लिए भी समझना।

'हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय तिर्यंच क्या नरकायु का बन्ध करते हैं ? गौतम ! वे नरकायु का बन्ध नहीं करते हैं, तिर्यंचायु का बन्ध नहीं करते हैं, मनुष्यायु का बन्ध नहीं करते हैं, देवायु का बन्ध नहीं करते हैं और मिथ्यादृष्टि चारों आयु का बन्ध करते हैं। इसी प्रकार नील और कापोत लेश्या के लिए भी समझना चाहिए।

'जिस प्रकार से पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के लिए कहा है वैसे ही मनुष्यों के लिये भी समझना चाहिए।'

सिद्धान्त के उक्त कथन के आधार पर श्री जीवविजयजी और श्री जयसोमसूरि ने अपने-अपने टबे में शंका उठाई है कि चौथे गुणस्थानवर्ती कृष्णादि तीन लेश्या वाले जीवों को देवायु का बन्ध नहीं माना जा सकता है। अतः चतुर्थ गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों के बजाय देवायु के बिना ७६ प्रकृतियों का बन्ध माना जाना चाहिए। इस मतभिन्नता का समाधान कहीं नहीं किया गया है। टबाकारों ने भी बहुश्रुतगम्य कहकर उसे छोड़ दिया है। गोम्मटसार कर्मकांड में तो इस शंका को स्थान ही नहीं है, क्योंकि वहाँ भगवती का पाठ मान्य करने का आग्रह नहीं है। परन्तु भगवती सूत्र को मानने वाले कर्मग्रंथिकों के लिए यह शंका उपेक्षणीय नहीं है।

---

१ 'किरियावादी' शब्द का अर्थ टीका में क्रियावादी—सम्यक्त्वी—किया गया है।

अतएव उक्त शंका के सम्बन्ध में जब तक दूसरा प्रामाणिक समाधान न मिले, तब तक यह समाधान मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले सम्यग्दृष्टि के जो प्रकृतिबन्ध में देवायु की गणना की गई है, वह कर्मग्रन्थ सम्बन्धी मत है, सैद्धान्तिक मत नहीं है।

कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का कई विषयों में मतभेद है।[1] इसलिए इस कर्मग्रन्थ में भी उक्त देवायु का बन्ध होने न होने के सम्बन्ध में कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का मतभेद मानकर आपस में विरोध का परिहार कर लेना उचित है।

इस प्रकार कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं का बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद अब तेज, पद्म और शुक्ल—इन शुभ लेश्याओं का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

तेजोलेश्या पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाई जाती है और नरकनवक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकआयु, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणनाम, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन नौ प्रकृतियों का बन्ध अशुभ लेश्याओं में होने के कारण तेजोलेश्या धारण करने वालों के उक्त नौ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से और तेजोलेश्या वाले उन स्थानों में पैदा नहीं होते जिनमें नरकगति, सूक्ष्म एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में उक्त प्रकृतियों का उदय होता है, अतः तेजोलेश्या में सामान्य से १११ प्रकृतियों का बन्ध

---

१. सासणभावे नाणं विउव्वगाहारगं उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि॥

—कर्मग्रन्थ ४।४९

सासादन अवस्था में सम्यग्ज्ञान, वैक्रियशरीर तथा आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग और एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान का अभाव यह तीन बातें यद्यपि सिद्धान्त-सम्मत हैं तथापि इस ग्रन्थ में इनका अधिकार नहीं है।

माना जाता है तथा पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विक का बन्ध न होने से सामान्य से बन्धयोग्य १११ प्रकृतियों में से ३ प्रकृतियों को कम करने पर १०८ प्रकृतियों का और दूसरे से सातवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व है। अर्थात् दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६८, छठे में ६३ और सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

यद्यपि गाथा के संकेतानुसार पहले शुक्ललेश्या का बन्ध स्वामित्व बतलाना चाहिए। लेकिन सुविधा की दृष्टि से पहले तेजोलेश्या के बाद क्रमप्राप्त पद्मलेश्या का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

पद्मलेश्या में भी तेजोलेश्या के समान पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सात गुणस्थान होते हैं, किन्तु तेजोलेश्या की अपेक्षा पद्म-लेश्या की यह विशेषता है कि इस लेश्या वाले तेजोलेश्या की नरक-नवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं करते हैं। क्योंकि तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रिय रूप से पैदा हो सकते हैं, किन्तु पद्मलेश्या वाले नरकादि एवं एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता है। अतएव पद्मलेश्या का बन्धस्वामित्व सामान्य रूप से १०८ प्रकृतियों का और पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म तथा आहारकद्विक का बन्ध न होने से १०५ का और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए। दूसरे से लेकर सातवें गुण-स्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या ऊपर बतलाई जा चुकी है।

शुक्ललेश्या में पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक तेरह गुण-स्थान होते हैं। पद्मलेश्या की अपेक्षा शुक्ललेश्या की यह विशेषता है कि पद्मलेश्या की नहीं बँधनेयोग्य नरकगति आदि बारह प्रकृतियों

के अलावा उद्योतचतुष्क—उद्योतनामकर्म, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु का भी बन्ध नहीं होता है। क्योंकि ये चार प्रकृतियाँ तिर्यंचप्रायोग्य हैं। पद्मलेश्या वाला तो उन तिर्यंचों में उत्पन्न हो सकता है, जहाँ उद्योतचतुष्क का उदय होता है; किन्तु शुक्ललेश्या वाला इन प्रकृतियों के उदय वाले स्थानों में उत्पन्न नहीं होता है। अतएव उक्त १६ प्रकृतियाँ शुक्ललेश्या में बन्धयोग्य नहीं हैं अतः सामान्य से १०४ प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकरनामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०१ प्रकृतियों का और दूसरे गुणस्थान में नपुंसकवेद, हुंडसंस्थान, मिथ्यात्व और सेवार्त संहनन—इन चार प्रकृतियों को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से कम करने पर ९७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। नपुंसकवेद आदि इन चार प्रकृतियों को कम करने का कारण यह है कि ये चारों मिथ्यात्व के सद्भाव में बँधती हैं, किन्तु दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव है। तीसरे से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में कर्म-प्रकृतियों का बन्ध जैसा बन्धाधिकार में बतलाया है, उसी प्रकार शुक्ललेश्या वालों के लिए समझ लेना चाहिए।

शुक्ललेश्या के बन्धस्वामित्व में नरकगति आदि तिर्यंचायु पर्यन्त १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं माना है। अतः यहाँ शंका है—

तत्त्वार्थभाष्य में 'पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु। (अ० ४, सूत्र २३) शेषेषु लान्तकादिषु आसर्वार्थसिद्धात् शुक्ललेश्याः' तथा संग्रहणी में, कप्पतियपम्हलेसा लंताइसु सुक्कलेस हुंति सुरा (गाथा १७५)।

प्रथम दो देवलोकों में तेजोलेश्या, तीन देवलोकों में पद्मलेश्या और लान्तककल्प से सर्वार्थसिद्धपर्यन्त शुक्ललेश्या बताई है। तो यहाँ प्रश्न होता है कि लान्तककल्प से लेकर सहस्रार कल्प पर्यन्त के शुक्ललेश्या वाले देव तिर्यंचों में भी उत्पन्न हो जाते हैं तो तत्प्रायोग्य उद्योतचतुष्क का बन्ध क्यों नहीं करते हैं तथा इसी ग्रन्थ की ग्यारहवीं गाथा में आनतादि देवलोकों के बन्धस्वामित्व

के प्रसंग में 'आणयाई उज्जोयचउरहिया' आनतादि कल्प के देव उद्योत-चतुष्क के सिवाय शेष प्रकृतियों का बन्ध करते हैं, ऐसा कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि सहस्रार कल्प तक के देव उद्योतचतुष्क का बन्ध करते हैं और यहाँ शुक्ललेश्या मार्गणा में बन्ध का निषेध किया है। इस प्रकार पूर्वापर विरोध है।

श्री जीवविजयजी और श्री जयसोमसूरि ने भी अपने-अपने टबे में इस पूर्वापर विरोध का दिग्दर्शन कराया है।

इस कर्मग्रंथ के समान ही दिगम्बरीय कर्मशास्त्र में भी वर्णन है। दिगम्बरीय कर्मशास्त्र गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ११२ में कहा है—

> कप्पित्थीसु ण तित्थं सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं।
> तिरियाऊ उज्जोवो अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ ॥[1]

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की इस गाथा में जो सहस्रार देवलोक तक का बन्धस्वामित्व कहा है, उसमें इस कर्मग्रन्थ की ग्यारहवीं गाथा के समान ही उद्योतचतुष्क की गणना की गई है। तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा १२१ में शुक्ललेश्या के बन्धस्वामित्व के कथन में[2] भी उद्योतचतुष्क का वर्णन है।

अतः कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार में बन्धस्वामित्व समान होने पर भी दिगम्बरीय शास्त्र में उपर्युक्त विरोध नहीं आता है। क्योंकि

---

१. कल्पवासिनी स्त्रियों में तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध नहीं होता है और तिर्यंचद्विक, तिर्यंचायु और उद्योत इन चार प्रकृतियों का बन्ध शतार-सहस्रार नामक स्वर्ग तक होता है। आनतादि में इन चार प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। अतः इन चार को शतारचतुष्क भी कहते हैं; क्योंकि शतारयुगल तक ही इनका बन्ध होता है।

२ सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमबारसं च ण व अत्थि।

दिगम्बर मतानुसार लान्तव (लान्तक) देवलोक में पद्मलेश्या ही है।[1] अतएव उक्त दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि सहस्रारकल्पपर्यन्त के बन्धस्वामित्व में उद्योतचतुष्क की जो गणना की गई है, सो पद्मलेश्या वालों की अपेक्षा से है, शुक्ललेश्या वालों की अपेक्षा से नहीं। लेकिन तत्त्वार्थभाष्य, संग्रहणी आदि ग्रन्थों में देवलोकों की लेश्या के विषय में किये गये उल्लेखानुसार उक्त विरोध का परिहार नहीं होता है। यद्यपि इस विरोध का परिहार करने के लिए श्री जीवविजयजी ने अपने टबे में कुछ नहीं लिखा है, लेकिन श्री जयसोमसूरि ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि 'यह मानना चाहिए कि नौवें आदि देवलोकों में ही शुक्ललेश्या है।' इस कथन के अनुसार छठे आदि तीन देवलोकों में पद्म-शुक्ल दो लेश्याएँ और नौवें आदि देवलोकों में केवल शुक्ललेश्या मान लेने से उक्त विरोध का परिहार हो जाता है।

लेकिन इस पर प्रश्न होता है कि तत्त्वार्थभाष्य और संग्रहणी सूत्र में छठे, सातवें और आठवें देवलोक में शुक्ललेश्या का भी उल्लेख क्यों किया गया है? इसका समाधान यह है कि तत्त्वार्थभाष्य और संग्रहणी सूत्र में जो कथन है वह बहुलता की अपेक्षा से है। अर्थात् छठे आदि तीन देवलोकों में शुक्ललेश्या की बहुलता है और इसीलिए उनमें पद्मलेश्या संभव होने पर भी उसका कथन नहीं किया गया है। अर्थात् शुक्ललेश्या वालों के जो बन्धस्वामित्व कहा गया है, वह विशुद्ध शुक्ललेश्या की अपेक्षा से है।

इस प्रकार तत्त्वार्थभाष्य और संग्रहणीसूत्र की व्याख्या को उदार बनाकर विरोध का परिहार कर लेना चाहिए।

सारांश यह है कि कृष्णादि लेश्याओं में कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्यावाले आहारकद्विक को छोड़कर सामान्य से ११८

---

१ ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टेषु पद्म लेश्या। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः। —तत्त्वार्थसूत्र, ४।२२ सर्वार्थसिद्धि टीका

प्रकृतियों का बन्ध करते हैं और मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर-प्रकृति का बन्ध न होने से ११७ प्रकृतियों का तथा दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में बन्धस्वामित्व के समान ही बन्ध समझना चाहिए।

चौथे गुणस्थान के समय इन कृष्णादि तीन लेश्याओं में ७७ प्रकृतियों का बन्ध माना है, उसमें देवायु का भी ग्रहण है, जो कर्म-ग्रन्थकारों की दृष्टि से ठीक है। लेकिन भगवती सूत्र में बताया है कि कृष्णादि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वी मनुष्यायु को बाँध सकते हैं, अन्य आयु को नहीं। इस प्रकार ७६ प्रकृतियों का बन्ध माना जाना चाहिए। इस विरोध का परिहार करने का सरल उपाय यह है कि कृष्णादि तीन लेश्या वाले सम्यक्त्वियों के प्रकृतिबन्ध में जो देवायु की गणना की गई है, वह कर्मग्रन्थकारों के मतानुसार है, सैद्धान्तिक मत के अनुसार नहीं।

तेजोलेश्या पहले सात गुणस्थान में पाई जाती है और इस लेश्या वाले नरकनवक का बन्ध नहीं करने से सामान्य से १११ प्रकृतियों का बन्ध करते हैं और पहले गुणस्थान में तीर्थंकरनाम-कर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०८ और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

पद्मलेश्या में भी तेजोलेश्या के समान ही सात गुणस्थान होते हैं। लेकिन तेजोलेश्या से इसमें विशेषता यह है कि पद्मलेश्या वाले नरकनवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों को भी नहीं बाँधते हैं। अतएव पद्मलेश्या का बन्धस्वामित्व सामान्य रूप से १०८ प्रकृतियों का तथा पहले गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म तथा आहारकद्विक को घटाने से १०५ का और दूसरे से लेकर सातवें गुणस्थान तक प्रत्येक में बन्धाधिकार के समान ही बन्ध समझना चाहिए।

शुक्ललेश्या पहले से तेरहवें गुणस्थान तक पाई जाती है। इसमें पद्मलेश्या की अबन्ध्य बारह प्रकृतियों के अतिरिक्त उद्योत-चतुष्क का भी बन्ध नहीं होने से सोलह प्रकृतियाँ सामान्य बन्ध में नहीं गिनी जाती हैं। इसलिए सामान्य रूप से १०४ प्रकृतियों का बन्ध होता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकरनामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०१ का तथा दूसरे गुणस्थान में नपुंसक वेद, हुंडसंस्थान, मिथ्यात्व और सेवार्त संहनन इन चार को १०१ में से कम करने से शेष ९७ प्रकृतियों का और तीसरे से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक गुणस्थानों के समान ही बंधस्वामित्व समझना चाहिए।

इस प्रकार लेश्यामार्गणा का बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद आगे की गाथा में भव्य आदि शेष रही मार्गणाओं के बन्धस्वामित्व का कथन करते हैं—

सव्वगुणभव्वसन्निसु ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मभंगो अणाहारे ॥२३॥

गाथार्थ—भव्य और संज्ञी मार्गणाओं में सभी गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व है तथा अभव्य और असंज्ञियों का बन्धस्वामित्व मिथ्यात्व गुणस्थान के समान है। सास्वादन गुणस्थान में असंज्ञियों का बन्धस्वामित्व संज्ञी के समान तथा अनाहारकमार्गणा का बन्धस्वामित्व कार्मणयोग के समान जानना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा में भव्य व संज्ञी मार्गणा के भेदों में तथा आहारकमार्गणा के भेद अनाहारक मार्गणा में बन्धस्वामित्व बतलाया है।

भव्य और संज्ञी—ये दोनों चौदह गुणस्थानों के अधिकारी हैं। इसलिए इनका बन्धस्वामित्व सामान्य से १२० प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७, सासादन गुण-

स्थान में १०१ आदि बन्धाधिकार के समान समझना चाहिए।

सामान्य और गुणस्थानों में बन्ध का वर्णन दूसरे कर्मग्रन्थ में विशद रूप से किया गया है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति नहीं की गई है।

द्रव्यमन के बिना भावमन नहीं होता है जैसे कि असंज्ञी। केवली भगवान के भावमन के बिना भी द्रव्यमन होता है, ऐसा सिद्धान्त में बताया गया है।¹ अर्थात् केवली भगवान के मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमजन्य मनन परिणाम रूप भावमन नहीं है, परन्तु अनुत्तर विमान के देवों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर द्रव्यमन से देते हैं। इसलिए भावमन के बिना द्रव्यमन होता है और वह मन चौदह गुणस्थान तक होता है। सिद्धान्त में उन्हें नोसंज्ञीनोअसंज्ञी कहा है। यहाँ संज्ञीमार्गणा में द्रव्यमन की अपेक्षा संज्ञी मानकर चौदह गुणस्थान बतलाये गये हैं।

अभव्य जीवों के पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है और सम्यक्त्व एवं चारित्र की प्राप्ति न होने के कारण तीर्थङ्करनामकर्म तथा आहारकद्विक का बन्ध संभव ही नहीं है। इसलिए सामान्य से तथा पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म, आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों को छोड़कर सामान्य व गुणस्थान की अपेक्षा अभव्यजीव ११७ प्रकृतियों के बन्ध के अधिकारी हैं।

असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान होते हैं। इनके सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विक का बन्ध नहीं होने से तीन प्रकृतियों को छोड़कर ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान में संज्ञी जीवों के समान वे १०१ प्रकृतियों के बन्धाधिकारी हैं।

अनाहारकमार्गणा में कार्मण काययोग मार्गणा के समान बन्धस्वामित्व समझना चाहिए। यह मार्गणा पहले, दूसरे, चौथे,

---

१ द्रव्यचित्तं बिना भावचित्तं न स्यादसंज्ञिवत्।
विनाऽपि भावचित्तं तु द्रव्यं केवलिनो भवेत्॥

तेरहवें और चौदहवें इन पाँच गुणस्थानों में पाई जाती है।[1] इनमें से पहला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान उस समय होते हैं, जिस समय जीव दूसरे स्थान में पैदा होने के लिए विग्रहगति से जाते हैं, उस समय एक, दो या तीन समय पर्यन्त जीव को औदारिक आदि स्थूल शरीर नहीं होने से अनाहारक अवस्था रहती है[2] तथा तेरहवें गुणस्थान में केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में अनाहारकत्व रहता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का निरोध (अभाव) हो जाने से किसी तरह का आहार संभव नहीं है। इसीलिए उक्त पाँच गुणस्थानों में अनाहारक मार्गणा मानी जाती है।

किन्तु यहाँ जो कार्मण योग के समान अनाहारक मार्गणा में बन्धस्वामित्व कहा है उसका कारण यह समझना चाहिए कि यहाँ चार गुणस्थान बन्ध की अपेक्षा से बताये गये हैं, क्योंकि अयोगी तो योगनिरोध (अभाव) के कारण अबन्धक ही हैं। शेष रहे पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें गुणस्थान, उनमें भी विग्रहगति स्थित जीव के भवधारणीय शरीर के अभाव के कारण अनाहारक अवस्था होती है तथा तेरहवें गुणस्थान में जब केवली समुद्घात करे, तब तीसरे चौथे और पाँचवें समय में अनाहारक अवस्था होती है। इस अपेक्षा से तेरहवाँ गुणस्थान समझना चाहिए।

अनाहारक मार्गणा में कार्मण योग के समान सामान्य से ११२

---

१. (क) पढमतिमदुगअजया अणाहारे मग्गणासु गुणा।

—कर्मग्रन्थ, ४।२३

(ख) विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुग्घदो अजोगीय।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा॥

—गो० जीवकाण्ड, ६६५

२. एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः।

—तत्त्वार्थसूत्र २।३१

प्रकृतियों का और पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ६४, चौथे में ७५ और तेरहवें में १ प्रकृति का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

अनाहारक मार्गणा में जो सामान्य आदि की अपेक्षा बन्धस्वामित्व बतलाया है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, मनुष्यायु, तिर्यंचायु इन आठ प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से ११२ तथा इनमें से जिननाम, देवद्विक, तथा वैक्रियद्विक इन पाँच प्रकृतियों को कम करने से पहले गुणस्थान में १०७ प्रकृतियों का और इन १०७ प्रकृतियों में से सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रियजाति स्थावरनाम, आतपनाम, नपुंसकवेद मिथ्यात्वमोहनीय, हुंड संस्थान और सेवार्त संहनन—इन तेरह प्रकृतियों के कम करने पर दूसरे सास्वादन गुणस्थान में ६४ प्रकृतियों का तथा इनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि चौबीस प्रकृतियों को कम करने तथा जिनपंचक प्रकृतियों को मिलाने पर चौथे गुणस्थान में ७५ प्रकृतियों का तथा सयोगिकेवली गुणस्थान में एक सातावेदनीय प्रकृति का बन्ध होता है।

सारांश यह है कि भव्य और संज्ञी इन दो मार्गणाओं में चौदह ही गुणस्थान होते हैं, अतः इनका सामान्य से और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार में बताये गये अनुसार समझना चाहिए।

अभव्य पहले ही गुणस्थान में अवस्थित रहते हैं अतः इनका बन्धस्वामित्व सामान्य एवं गुणस्थान की अपेक्षा पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का है।

असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान होते हैं और इनमें तीर्थङ्करनामकर्म और आहारकद्विक—इन तीन प्रकृतियों का बन्ध होना संभव नहीं है, अतः सामान्य से और पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का और दूसरे में बन्धाधिकार के समान १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

यद्यपि पहले, दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें इन पाँच गुणस्थानों में अनाहारक अवस्था होती है। किन्तु बन्ध की अपेक्षा से अनाहारक मार्गणा में कार्मण काययोग के समान पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ—ये चार गुणस्थान होते हैं। क्योंकि कर्मबन्ध होना वहीं तक संभव है, और इनमें सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा बन्ध कार्मणयोग के समान समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य से ११२, पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ९४, चौथे में ७५ व तेरहवें में १ प्रकृति का बन्ध होता है।

इस प्रकार गति आदि चौदह मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व का कथन किया जा चुका है। अब आगे की गाथा में ग्रन्थ-समाप्ति एवं लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन करते हैं—

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा चउ सग तेर त्ति बंधसामित्तं।
देविंदसूरिलिहियं नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥२४॥

गाथार्थ—पहली तीन लेश्याओं में आदि के चार गुणस्थान, तेज और पद्म इन दो लेश्याओं में आदि के सात गुणस्थान तथा शुक्ल-लेश्या में तेरह गुणस्थान होते हैं। इस प्रकार श्री देवेन्द्रसूरि द्वारा रचित इस बन्धस्वामित्व प्रकरण का ज्ञान 'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रन्थ को जानकर करना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा में ग्रन्थ-समाप्ति का संकेत करते हुए लेश्याओं में गुणस्थानों को बतलाया है।

लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन अलग से करने का कारण यह है कि अन्य मार्गणाओं में जितने-जितने गुणस्थान चौथे कर्मग्रन्थ में बतलाये गये हैं, उनमें कोई मतभेद नहीं है, परन्तु लेश्यामार्गणा के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। चौथे कर्मग्रन्थ के मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में छह गुणस्थान हैं[1] परन्तु इस तीसरे कर्मग्रन्थ के

---

१ अस्सन्निसु पढमदुगं पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त।

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ, २३

मतानुसार उनमें चार गुणस्थान ही माने हैं। यह चार गुणस्थानों का कथन पंचसंग्रह और प्राचीन बन्धस्वामित्व के मतानुसार है। पंचसंग्रह और प्राचीन बन्धस्वामित्व की तत्सम्बन्धी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

'छल्लेस्सा जाव सम्मोत्ति' —पंचसंग्रह १-३०

'छस्सवसु तिण्णि तीसु छण्हं सुक्का अजोगी अलेस्सा।'

—प्राचीन बंधस्वामित्व, गाथा ४०

उक्त मतों का समर्थन गोम्मटसार में भी किया गया है।[1] अत-एव कृष्णादि तीन लेश्याओं में बन्धस्वामित्व भी चार गुणस्थानों को लेकर ही किया गया है। कृष्ण आदि तीन लेश्याओं को पहले चार गुणस्थानों में मानने का आशय यह है कि ये लेश्याएँ अशुभ परिणाम रूप होने से आगे के अन्य गुणस्थानों में नहीं पाई जा सकती हैं। तेज आदि तीन लेश्याओं में से तेज और पद्म—ये दो लेश्याएँ शुभ हैं परन्तु उनकी शुभता शुक्ललेश्या से बहुत कम है, इसलिए वे दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान तक पाई जाती हैं और शुक्ललेश्या का स्वरूप परिणामों की मन्दता (शुद्धता) से इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहवें गुणस्थान तक पाई जाती है।

इन छह लेश्याओं का सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा बंध-स्वामित्व गाथा २१ और २२ में बतलाया जा चुका है। अतः वहीं से समझ लेना चाहिए।

---

१ थावरकायप्पहुदी अविरदसम्मोत्ति असुहतियलेस्सा।
सण्णी दो अपमत्तो जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ॥

—गो० जीवकांड ६९१

अर्थात् पहली तीन अशुभ लेश्याएँ स्थावरकाय से लेकर चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त होती हैं और अन्त की तीन शुभ लेश्याएँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्तपर्यन्त होती हैं।

इस ग्रन्थ में मार्गणाओं को लेकर जीवों के बन्धस्वामित्व का कथन सामान्य रूप से तथा गुणस्थानों को लेकर विशेष रूप से किया गया है। इसलिए इस प्रकरण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए दूसरे कर्मग्रन्थ का अध्ययन कर लेना जरूरी है। क्योंकि दूसरे कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों को लेकर प्रकृतिबन्ध का विचार किया गया है जो इस प्रकरण में भी आता है कि अमुक मार्गणा का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के समान है।

इस प्रकरण का नाम बन्धस्वामित्व रखने का कारण यह है कि इसमें मार्गणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृतिबन्ध सम्बन्धी योग्यता के बन्धस्वामित्व का विचार किया गया है।

इस प्रकार श्री देवेन्द्रसूरि विरचित बन्धस्वामित्व नामक यह तीसरा कर्मग्रन्थ समाप्त हुआ।

बन्धस्वामित्व नामक तृतीय कर्मग्रंथ समाप्त।

परिशिष्ट

- मार्गणाओं में उदय-उदीरणा-सत्ता-स्वामित्व
- मार्गणाओं में बन्ध-उदय-सत्ता-स्वामित्व विषयक दिगम्बर कर्मसाहित्य का मन्तव्य
- श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के समान-असमान मन्तव्य
- मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व प्रदर्शक यंत्र
- जैन-कर्मसाहित्य का संक्षिप्त परिचय
- कर्मग्रन्थ भाग १ से ३ तक की मूल गाथाएँ
- संक्षिप्त शब्द-कोश

मार्गणाओं में उदय-उदीरणा-सत्ता-स्वामित्व

तीसरे कर्मग्रन्थ में सामान्य और गुणस्थानों के माध्यम से मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व का कथन है; किन्तु उदय, उदीरणा, सत्ता के स्वामित्व का विचार नहीं किया गया है। लेकिन उपयोगिता की दृष्टि से संक्षेप में उनका विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। अतः उनसे सम्बन्धित स्पष्टीकरण किया जाता है।

उदयस्वामित्व

नरकगति—इस मार्गणा में मिथ्यात्व से लेकर अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। सामान्यतया उदययोग्य १२२ प्रकृतियां हैं, उनमें से ज्ञानावरण पांच, दर्शनावरण चार, अंतराय पांच, मिथ्यात्वमोहनीय, तैजसनाम, कार्मणनाम, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु नाम, निर्माणनाम, स्थिरनाम, अस्थिरनाम, शुभनाम और अशुभनाम ये सत्ताईस प्रकृतियां ध्रुवोदयी—अपनी-अपनी उदय-भूमिका पर्यन्त अवश्य उदयवती होती हैं। उनमें मिथ्यात्वमोहनीय की उदयभूमि प्रथम गुणस्थान है और वहां वह ध्रुवोदयी है। पांच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान तक और शेष बारह प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान तक सभी जीवों के होने से वे ध्रुवोदयी हैं। ये सत्ताईस ध्रुवोदयी प्रकृतियां तथा निद्रा, प्रचला, वेदनीयद्विक, नीच गोत्र, नरकत्रिक, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियद्विक, हुण्डसंस्थान, अशुभविहायोगति, पराघात, उच्छ्वासनाम, उपघात, त्रसचतुष्क, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश, सोलह कषाय, हास्यादिषट्क, नपुंसक वेद, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय ये ७६ प्रकृतियां सामान्य से नारकों के उदय में होती हैं। उनमें से पंचसंग्रह और कर्मप्रकृति के मत से स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय वैक्रिय शरीरी देव और नारकों के नहीं होता है। कहा है कि असंख्य वर्ष की आयु

वाले मनुष्य, तिर्यंच, वैक्रिय शरीर वाले, आहारक शरीर वाले और अप्रमत्त साधु के सिवाय शेष अन्य के स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय और उदीरणा होती है।[1]

सामान्य से उदयवर्ती ७६ प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्र मोहनीय को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ तथा नरकानुपूर्वी और मिथ्यात्वमोहनीय के सिवाय ७२ प्रकृतियाँ सास्वादन गुणस्थान में उदययोग्य हैं, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्र-मोहनीय को जोड़ने पर मिश्रगुणस्थान में ६९ प्रकृतियाँ और उनमें से मिश्र-मोहनीय को कम करने और सम्यक्त्वमोहनीय तथा नरकानुपूर्वी का प्रक्षेप करने से अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

तिर्यंचगति—इस मार्गणा में पाँच गुणस्थान होते हैं। इसमें देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, मनुष्यत्रिक, उच्च गोत्र और जिन-नाम—इन पन्द्रह प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। इसलिए उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से पन्द्रह प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से १०७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। तिर्यंचों के भवधारणीय वैक्रिय शरीर नहीं होता है, किन्तु लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है, अतः उसकी अपेक्षा से वैक्रिय-द्विक को साथ जोड़ने पर १०९ प्रकृतियाँ उदय में मानी जा सकती हैं लेकिन सामान्य से १०७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी जाती हैं। पूर्वोक्त १०७ प्रकृतियों में से सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियों को कम करने से मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५ प्रकृतियाँ, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतप-नाम और मिथ्यात्वमोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुण-स्थान में १०० प्रकृतियाँ उदययोग्य होती हैं, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क,

१ (क)—देखें कर्मप्रकृति उदीरणाकरण गाथा १९—'संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच के इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद स्त्यानर्द्धित्रिक उदय में आने योग्य है, उसमें आहारकलब्धि तथा वैक्रियलब्धि वाले को उसका उदय नहीं होता है।
(ख)—थीणतिगुदओ णरे तिरिये।

—गो० कर्मकाण्ड २८५

स्थावर नाम, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क और तिर्यंचानुपूर्वी—इन दस प्रकृतियों को कम करने पर और मिश्रमोहनीय को जोड़ने से मिश्र गुणस्थान में ६१ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से मिश्रमोहनीय के कम करने और सम्यक्त्व-मोहनीय तथा तिर्यंचानुपूर्वी—इन दो प्रकृतियों को मिलाने से अविरत गुणस्थान में ६२ उदय में होती हैं। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, दुर्भग, अनादेय, अयश और तिर्यंचानुपूर्वी इन आठ प्रकृतियों के सिवाय देशविरति गुणस्थान में ८४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

यहाँ सर्वत्र लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा नहीं की है, अतएव वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग इन दो प्रकृतियों को सर्वत्र कम समझना चाहिए।

मनुष्यगति—इसमें चौदह गुणस्थान होते हैं। देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, जातिचतुष्क, तिर्यंचत्रिक, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और आतप—इन २० प्रकृतियों का उदय मनुष्य के होता नहीं है, इसलिए उनको कम करने पर सामान्य से १०२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। परन्तु लब्धि-निमित्तक वैक्रिय शरीर की अपेक्षा उत्तरवैक्रिय शरीर करने पर वैक्रियद्विक और उद्योत नाम का उदय होने से इन तीन प्रकृतियों सहित १०५ प्रकृतियाँ भी उदय में हो सकती हैं लेकिन उनकी यहाँ अपेक्षा नहीं की गई है। यहाँ सामान्य से जो १०२ प्रकृतियाँ उदय में आती हैं, उनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों का उदय नहीं होने से, उन्हें कम करने पर ९७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अपर्याप्तनाम और मिथ्यात्वमोहनीय—इन दो प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में ९५ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें अनन्तानुबन्धीचतुष्क और मनुष्यानुपूर्वी इन पाँच प्रकृतियों को कम करने और मिश्र-मोहनीय को जोड़ने पर मिश्र गुणस्थान में ९१ प्रकृतियाँ हैं तथा उसमें से मिश्रमोहनीय को कम करने तथा सम्यक्त्वमोहनीय एवं मनुष्यानुपूर्वी को मिलाने पर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ९२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीचगोत्र इन ९ प्रकृतियों के सिवाय देशविरत गुणस्थान में ८३

प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उक्त ८३ प्रकृतियों में से प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का उदयविच्छेद पाँचवें गुणस्थान में ही आने से छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं, लेकिन आहारकद्विक का उदय छठे गुणस्थान में होता है अतः इन दो प्रकृतियों को मिलाने से ८१ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

स्त्यानद्धित्रिक और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान में ७६ प्रकृतियाँ होती हैं। सम्यक्त्वमोहनीय और अंतिम तीन संहनन—इन चार प्रकृतियों को कम करने पर अपूर्वकरण में ७२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। हास्यादिषट्क के सिवाय अनिवृत्ति गुणस्थान में ६६ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। वेदत्रिक और संज्वलनत्रिक इन छह प्रकृतियों के अलावा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में ६० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। संज्वलन लोभ के बिना उपशांतमोह गुणस्थान में ५९ प्रकृतियाँ होती हैं। ऋषभ-नाराच और नाराच इन दो प्रकृतियों के सिवाय क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय में ५७ प्रकृतियाँ और निद्रा, प्रचला के सिवाय क्षीणमोह के अंतिम समय में ५५ प्रकृतियाँ होती हैं। ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अन्तराय ५—इन चौदह प्रकृतियों के उदयविच्छेद होने तथा तीर्थंकर नाम-कर्म उदययोग्य होने से सयोगिकेवली गुणस्थान में ४२ प्रकृतियाँ होती हैं। औदारिकद्विक, विहायोगतिद्विक, अस्थिर, अशुभ, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, वर्णचतुष्क, निर्माण, तैजस, कार्मण, वज्र-ऋषभनाराच संहनन, दुःस्वर, सुस्वर, सातावेदनीय और असातावेदनीय में से कोई एक—इन ३० प्रकृतियों के बिना अयोगिकेवली गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय होता है। सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, साता या असाता वेदनीय में से कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्त, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यद्विक, जिननाम और उच्च गोत्र—ये १२ प्रकृतियाँ अयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय उदय विच्छिन्न होती हैं।

देवगति—इस मार्गणा में प्रथम चार गुणस्थान होते हैं। नरकत्रिक, तिर्यंचत्रिक, मनुष्यत्रिक, जातिचतुष्क, औदारिकद्विक, आहारकद्विक, संहननषट्क, न्यग्रोधपरिमण्डलादि पांच संस्थान, अशुभ विहायोगति, आतप,

उद्योत, जिननाम, स्थावरचतुष्क, दुःस्वर, नपुंसक वेद, नीच गोत्र और स्त्यानर्द्धित्रिक इन ४२ प्रकृतियों के सिवाय शेष से देवों के ८० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। यहाँ उत्तरवैक्रिय शरीर करने वाले देवों के उद्योत नामकर्म का उदय संभव है, परन्तु भवप्रत्यय शरीर निमित्तक उद्योत का उदय विवक्षित होने से दोष नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिश्र व सम्यक्त्व मोहनीय का अनुदय होने से ७८ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। मिथ्यात्व का विच्छेद हो जाने से सास्वादन में ७७ प्रकृतियाँ, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और देवानुपूर्वी—इन पाँच प्रकृतियों को कम करने और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ७३ प्रकृतियाँ, मिश्रमोहनीय को कम करने तथा सम्यक्त्व मोहनीय और देवानुपूर्वी इन दो प्रकृतियों को जोड़ने पर अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।[1]

एकेन्द्रिय जाति—एकेन्द्रिय मार्गणा में आदि के दो गुणस्थान होते हैं। वैक्रियाष्टक, मनुष्यत्रिक, उच्चगोत्र, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, द्वीन्द्रिय जातिचतुष्क, आहारकद्विक, औदारिक अंगोपांग, आदि के पाँच संस्थान, विहायोगतिद्विक, जिननाम, त्रस, छह संहनन, दुःस्वर, सुस्वर, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सुभगनाम, आदेयनाम—इन ४२ प्रकृतियों के बिना सामान्यतः और मिथ्यात्व गुणस्थान में ८० प्रकृतियाँ होती हैं और वायुकाय को वैक्रिय शरीर नाम का उदय होने से एकेन्द्रिय मार्गणा में ८१ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। सूक्ष्मत्रिक, आतपनाम, उद्योतनाम, मिथ्यात्वमोहनीय, पराघातनाम और श्वासोच्छ्वासनाम—इन आठ प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं; क्योंकि सास्वादन गुणस्थान एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप् और वनस्पति को अपर्याप्त अवस्था में शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है और आतपनाम, उद्योतनाम, पराघातनाम और उच्छ्वास का उदय

---

१ गो० कर्मकांड में दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन तीन प्रकृतियों को देवगति में उदययोग्य नहीं माना है। अतः ७७ प्रकृतियाँ सामान्य से उदययोग्य हैं। अतः चारों गुणस्थानों में क्रमशः ७५, ७४, ७० और ७१ प्रकृतियों का उदय होता है।

—गो० कर्मकांड ३०४

शरीरपर्याप्ति एवं श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का उद्वमन करने वाला सूक्ष्म एकेन्द्रिय, लब्धि-अपर्याप्त और साधारण वनस्पति में उत्पन्न नहीं होता है, अतः उसके वहाँ सूक्ष्मत्रिक उदय में नहीं है।[1]

द्वीन्द्रिय आदि—एकेन्द्रिय के समान द्वीन्द्रिय के भी दो गुणस्थान होते हैं। वैक्रियाष्टक, मनुष्यत्रिक, उच्चगोत्र, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, द्वीन्द्रिय के बिना एकेन्द्रिय जातिचतुष्क, आहारकद्विक, आदि के पाँच संहनन, पाँच संस्थान, शुभ विहायोगति, जिननाम, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, सुभग, आदेय, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय—इन चालीस प्रकृतियों के उदय-अयोग्य होने से सामान्यतः और मिथ्यात्व गुणस्थान में ८२ प्रकृतियाँ उदय-योग्य हैं। उनमें से अपर्याप्त नाम, उद्योत, मिथ्यात्व, पराघात, अशुभ विहायोगति, उच्छ्वास, सुस्वर, दुःस्वर—इन आठ प्रकृतियों के बिना सास्वादन गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं, क्योंकि मिथ्यात्वमोहनीय का उदय तो वहाँ होता नहीं है और उसके सिवाय शेष प्रकृतियों का उदय शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही होता है और सास्वादन तो शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले ही होता है।

त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय आदि—इन दोनों मार्गणाओं में भी द्वीन्द्रिय के समान ही दो गुणस्थान होते हैं और उदयस्वामित्व भी उसके समान जानना चाहिए, किन्तु द्वीन्द्रिय के स्थान पर त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय समझना।[2]

पंचेन्द्रिय आदि—इसमें चौदह गुणस्थान होते हैं। जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और आतप इन आठ प्रकृतियों के बिना सामान्य से ११४

---

१ गो० कर्मकांड में सामान्य से पहले गुणस्थान में ८० व दूसरे गुणस्थान में ६९ (स्त्यानर्द्धित्रिक रहित) प्रकृतियों का उदय बताया है।

—गो० कर्मकांड ३०६-३०८

२ विकलेन्द्रियों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) में सामान्य से पहले गुणस्थान में ८१ व दूसरे में ७१ प्रकृतियों का उदय गो० कर्मकांड में बताया है।

—गो० कर्मकांड ३०६-३०८

प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं तथा मिथ्यात्वमोहनीय, अपर्याप्त और नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में १०६ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वी-त्रिक इन सात प्रकृतियों के बिना और मिश्र मोहनीय को मिलाने से मिश्र गुण-स्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। मिश्रमोहनीय को कम करने और चार आनुपूर्वी तथा सम्यक्त्वमोहनीय को संयुक्त करने पर अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ होती हैं। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियाष्टक, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन १७ प्रकृतियों के सिवाय देशविरत गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं और छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२, और १२ प्रकृतियों का उदय-स्वामित्व समझना चाहिए।

पृथ्वीकाय—इस मार्गणा में ऐकेन्द्रिय की तरह दो गुणस्थान समझना चाहिए। ऐकेन्द्रिय मार्गणा में कही गई ८० प्रकृतियाँ और साधारणनाम के सिवाय सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ७९ प्रकृतियों का उदय होता है। सूक्ष्म, लब्धि-अपर्याप्त, आतप, उद्योत, मिथ्यात्व, पराघात, श्वासोच्छ्वास इन सात प्रकृतियों के बिना सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। सास्वादन गुणस्थान करण-अपर्याप्त पृथ्वीकायादि को होता है, किन्तु लब्धि-अपर्याप्त को नहीं होता है।

अप्काय—पृथ्वीकाय के समान यहाँ भी दो गुणस्थान होते हैं। पृथ्वीकाय मार्गणा में कही गई ७९ प्रकृतियाँ और आतपनाम के सिवाय सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ७८ प्रकृतियों का उदय होता है। उनमें सूक्ष्म, अपर्याप्त, उद्योत, मिथ्यात्व, पराघात और उच्छ्वास इन छह प्रकृतियों के अलावा सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ होती हैं। क्योंकि सूक्ष्म, ऐकेन्द्रिय और लब्धि-अपर्याप्त में सम्यक्त्व का उद्वमन करने वाला कोई जीव उत्पन्न नहीं होता है। अतएव सास्वादन गुणस्थान में सूक्ष्म और अपर्याप्त नाम का उदय

नहीं होता है। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद उद्योत नाम और पराघात नाम का उदय होता है। श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति पूर्ण होने के अनन्तर श्वासोच्छ्वास का उदय होता है और मिथ्यात्वमोह का उदय यहाँ होता नहीं है।

तेजस्काय, वायुकाय—इनमें पहला गुणस्थान होता है। तेजस्काय में अपकाय की ४४ तथा उद्योत और यशःकीर्ति इन ४६ प्रकृतियों के सिवाय ७६ प्रकृतियों का तथा वायुकाय में वैक्रिय शरीर सहित ७७ प्रकृतियों का उदय होता है।

वनस्पतिकाय—इस मार्गणा में दो गुणस्थान होते हैं। एकेन्द्रिय मार्गणा में कही गई ४२ प्रकृतियों और आतपनाम के अतिरिक्त सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ७९ और सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

त्रसकाय—इसमें चौदह गुणस्थान होते हैं। उसमें स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और एकेन्द्रिय जाति इन पाँच प्रकृतियों के अलावा सामान्य से ११७ व आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय इन पाँच प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में ११२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से मिथ्यात्व, अपर्याप्त और नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियों को कम करने से सास्वादन गुणस्थान में १०९ प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क, विकलेन्द्रियत्रिक और आनुपूर्वीत्रिक—इन दस प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। आनुपूर्वीचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों को मिलाने और मिश्रमोहनीय को कम करने पर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। देशविरत आदि गुणस्थानों में सामान्य उदयाधिकार में कहा गया ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२ और १२ प्रकृतियों का उदय क्रमशः समझना चाहिए।

मनोयोग—यहाँ तेरह गुणस्थान होते हैं। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, आतप और आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेरह प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से १०९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व और मिश्र इन पाँच प्रकृतियों के अलावा मिथ्यात्व गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ,

मिथ्यात्व से रहित सास्वादन में १०३, अनन्तानुबन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० तथा मिश्रमोहनीय को कम करने और सम्यक्त्वमोहनीय को जोड़ने पर अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १००, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायु, नरकगति, नरकायु, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन तेरह प्रकृतियों के सिवाय देशविरत गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। शेष रहे गुणस्थानों में मनुष्यगति मार्गणा के समान उदय समझना चाहिए।

वचनयोग—यहाँ तेरह गुणस्थान होते हैं। स्थावरचतुष्क, एकेन्द्रिय जाति, आतप और आनुपूर्वीचतुष्क—इन दस प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से ११२, आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व और मिश्र—इन पाँच प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७, मिथ्यात्वमोहनीय और विकलेन्द्रियत्रिक इन चार प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में १०३ प्रकृतियाँ होती हैं। यद्यपि विकलेन्द्रिय को वचनयोग होता है, परन्तु भाषापर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही होता है और सास्वादन तो शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है। इसलिए इस मार्गणा में सास्वादन गुणस्थान में वचनयोग नहीं होता है। अतएव विकलेन्द्रियत्रिक निकाल दिया है। उसमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि से लेकर आगे के गुणस्थानों में मनोयोग मार्गणा के समान समझना चाहिए।

काययोग—इस मार्गणा में तेरह गुणस्थान होते हैं। इसमें सामान्य से १२२, मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७, सास्वादन में १११ इत्यादि सामान्य उदयाधिकार में कही प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

पुरुषवेद—इसमें नौ गुणस्थान होते हैं। नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, अपर्याप्त, जिननाम, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इन १५ प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से १०७ प्रकृतियों का उदय होता है। उनमें से आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र इन चार प्रकृतियों के अलावा मिथ्यात्व गुणस्थान में १०३ प्रकृतियाँ, मिथ्यात्व प्रकृति के बिना सास्वादन में १०२, प्रकृतियाँ, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वी-

त्रिक—इन सात प्रकृतियों को कम करने और मिश्रमोहनीय को जोड़ने से मिश्र गुणस्थान में ९६ प्रकृतियाँ और उनमें से मिश्र मोहनीय को निकालकर सम्यक्त्व तथा आनुपूर्वीत्रिक—इन चार प्रकृतियों को जोड़ने से अविरति गुणस्थान में ९९ प्रकृतियाँ होती हैं। आनुपूर्वीत्रिक, अप्रत्याख्याना-वरणचतुष्क, देवगति, देवायु, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश इन १४ प्रकृतियों के बिना देशविरत गुणस्थान में ८५ प्रकृतियाँ होती हैं। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, उद्योत और नीचगोत्र इन आठ प्रकृतियों को कम करके आहारकद्विक को मिलाने से प्रमत्तसंयत गुणस्थान में ७९ प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारक-द्विक—इन पाँच प्रकृतियों के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ, सम्यक्त्वमोहनीय और अंतिम तीन संहनन—इन चार प्रकृतियों के बिना अपूर्वकरण गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ होती हैं और हास्यादि छह प्रकृतियों के बिना अनिवृत्ति गुणस्थान में ६४ प्रकृतियाँ होती हैं।

स्त्रीवेद—इसमें भी पुरुषवेद के समान नौ गुणस्थान होते हैं और यहाँ सामान्य से तथा प्रमत्त गुणस्थान में आहारकद्विक के बिना तथा चौथे गुण-स्थान में आनुपूर्वीत्रिक के सिवाय शेष रही प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए। क्योंकि प्रायः स्त्रीवेदी के परभव में जाते समय चतुर्थ गुणस्थान नहीं होता है। अतः आनुपूर्वीत्रिक का उदय नहीं होता है और स्त्री चतुर्दश पूर्वधर नहीं होती है। इसलिए उसे आहारकद्विक का भी उदय नहीं होता है। अतः सामान्य से तथा नौ गुणस्थानों में अनुक्रम से १०५, १०३, १०२, ९६, ८५, ७७, ७४, ७० और ६४ इस प्रकार उदय समझना चाहिए।

नपुंसकवेद—इसमें भी नौ गुणस्थान होते हैं। इसमें देवत्रिक, जिननाम, स्त्रीवेद और पुरुषवेद, आहारकद्विक इन ८ प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से ११४, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय—इन दो प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में ११२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों को कम करने पर सास्वादन गुणस्थान में १०६ प्रकृतियाँ होती हैं। अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, स्थावर और जातिचतुष्क इन ११ प्रकृतियों के कम करने और

मिश्रमोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ६९ प्रकृतियाँ और मिश्र-मोहनीय के क्षय व सम्यक्त्व व नरकानुपूर्वी के उदययोग्य होने से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ९७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन बारह प्रकृतियों के बिना देशविरत गुणस्थान में ८५ प्रकृतियाँ होती हैं। तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीचगोत्र, उद्योत और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क—इन आठ प्रकृतियों को कम करने से ७७ प्रकृतियाँ प्रमत्त गुणस्थान में होती हैं। स्त्यानर्द्धित्रिक—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ, सम्यक्त्वमोहनीय और अंतिम तीन संहनन—इन चार प्रकृतियों के बिना अपूर्वकरण गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ और हास्यादिषट्क के बिना अनिवृत्ति गुणस्थान में ६४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

क्रोध—यहाँ नौ गुणस्थान होते हैं। मान—४, माया—४, लोभ—४, और जिननाम—इस तेरह प्रकृतियों के बिना सामान्य से १०९, सम्यक्त्व, मिश्र और आहारकद्विक—इन ४ प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५, सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों के बिना सास्वादन में ९९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, स्थावर, जातिचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक—इन नौ प्रकृतियों को कम करने और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ९१ प्रकृतियाँ, उनमें से मिश्रमोहनीय को कम करने और सम्यक्त्वमोहनीय तथा आनुपूर्वीचतुष्क को मिलाने पर अविरत गुणस्थान में ९५ प्रकृतियाँ, उनमें से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, आनुपूर्वीचतुष्क, देवगति, देवायु, नरकगति नरकायु, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन चौदह प्रकृतियों के बिना देशविरत गुणस्थान में ८१ प्रकृतियाँ होती हैं। तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, उद्योत, नीचगोत्र और प्रत्याख्यानावरण क्रोध—इन पाँच प्रकृतियों के न्यून करने और आहारकद्विक के मिलाने पर प्रमत्त गुणस्थान में ७८ प्रकृतियाँ होती हैं। स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों को कम करने पर अप्रमत्त गुणस्थान में ७३ प्रकृतियाँ, सम्यक्त्वमोहनीय और अन्तिम तीन संहनन—इन चार प्रकृतियों के बिना अपूर्वकरण गुणस्थान में ६९ और हास्यादिषट्क बिना अनिवृत्ति गुणस्थान में ६३ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

मान, माया और लोभ—यहाँ उदयस्वामित्व पूर्ववत् समझना चाहिए। परन्तु मान और माया कषाय मार्गणा में नौ गुणस्थान होते हैं। इसी प्रकार अपने सिवाय अन्य तीन कषायों की बारह प्रकृतियाँ भी कम करनी चाहिए। जैसे कि मान मार्गणा में अन्य तीन कषाय के अनन्तानुबन्धी आदि बारह भेद और जिननाम—इन तेरह प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से १०६ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। इसी प्रकार अन्य कषायों के लिए भी समझना चाहिए। लोभ मार्गणा में दसवें गुणस्थान में तीन वेदों को कम करने पर ६० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

मति, श्रुत और अवधि ज्ञान—यहाँ चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थान होते हैं। सामान्य से १०६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। आहारकद्विक के सिवाय अविरत गुणस्थान में १०४ और देशविरत आदि गुणस्थानों में सामान्य उदयाधिकार के अनुसार क्रमशः ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९ और ५७ का उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

मनःपर्यायज्ञान—इस मार्गणा में प्रमत्त गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक सात गुणस्थान होते हैं, इसलिए सामान्य से ८१ और प्रमत्तादि गुणस्थानों में अनुक्रम से ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९ प्रकृतियाँ उदय में समझनी चाहिए।

केवलज्ञान—इस मार्गणा में तेरहवाँ और चौदहवाँ ये दो गुणस्थान होते हैं। उनमें सामान्यतः ४२ और १२ प्रकृतियाँ अनुक्रम से समझना चाहिए।

मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान—यहाँ आदि के तीन गुणस्थान समझना चाहिए। आहारकद्विक, जिननाम और सम्यक्त्वमोहनीय के बिना सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ११८, सास्वादन गुणस्थान में १११ और मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

विभंग ज्ञान—यहाँ भी पूर्व कथनानुसार तीन गुणस्थान होते हैं। आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व, स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, आतप, मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी इन पन्द्रह प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से १०५ प्रकृतियाँ उदययोग्य होती हैं। मनुष्य और तिर्यंच में विग्रहगति से विभंगज्ञान सहित नहीं उपजता है, ऋजुगति से उपजता है, अतएव यहाँ मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी का निषेध किया है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिश्रमोहनीय के सिवाय १०६

प्रकृतियाँ, सास्वादन में मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी के बिना १०४ प्रकृतियाँ, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और देवानुपूर्वी को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयम—इन दोनों चारित्रों में प्रमत्त से लेकर चार गुणस्थान होते हैं। उनमें ८१, ७६, ७२ और ६६ प्रकृतियों का क्रमशः उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

परिहारविशुद्धि—यहाँ छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान होते हैं। उनमें पूर्वोक्त ८१ प्रकृतियों में से आहारकद्विक, स्त्रीवेद, प्रथम संहनन के सिवाय शेष पाँच संहनन—इन आठ प्रकृतियों के बिना सामान्य से और प्रमत्त में ७३ प्रकृतियाँ होती हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र वाला चतुर्दश पूर्वधर नहीं होता है तथा स्त्री को परिहारविशुद्धि चारित्र नहीं होता है और वज्रऋषभनाराच संहनन वाले को ही परिहारविशुद्धि चारित्र होता है, इसीलिए यहाँ पूर्वोक्त आठ प्रकृतियों के उदय का निषेध किया है। स्त्यानर्द्धित्रिक के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।[1]

सूक्ष्मसंपराय—यहाँ सिर्फ दसवाँ सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान ही होता है। सामान्यतः यहाँ ६० प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

यथाख्यात—यहाँ अन्त के ११, १२, १३ और १४ ये चार गुणस्थान होते हैं। उनमें उपशान्त मोह में ५९, ऋषभनाराच और नाराच इन दो संहनन के सिवाय क्षीणमोह के द्विचरम समय में ५७, निद्राद्विक के बिना अन्तिम समय में ५५, सयोगिकेवली गुणस्थान में ४२ और अयोगिकेवली गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय होता है।

देशविरत—यहाँ पाँचवाँ एक ही गुणस्थान होता है और उसमें सामान्य से ८७ प्रकृतियों का उदय जानना चाहिए।

अविरत—इस मार्गणा में प्रथम चार गुणस्थान होते हैं। इसमें जिननाम और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से ११९,

---

१ दिगम्बराचार्यों ने ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी हैं और छठे, सातवें गुणस्थान में क्रमशः ७७, ७४ प्रकृतियों का उदय कहा है।

सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व में ११७, सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों के बिना सास्वादन में १११, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्थावर, जातिचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक—इन बारह प्रकृतियों को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ होती हैं, उनमें आनुपूर्वीचतुष्क और सम्यक्त्वमोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों को मिलाने और मिश्रमोहनीय को कम करने पर अविरत गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

चक्षुदर्शन—यहाँ बारह गुणस्थान होते हैं। जातित्रिक, स्थावरचतुष्क, जिननाम, आतप, आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेरह प्रकृतियों के बिना सामान्य से १०६, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५, मिथ्यात्व के बिना सास्वादन में १०४, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और चतुरिन्द्रिय जाति—इन पाँच प्रकृतियों के बिना और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० तथा अविरतसम्यग्दृष्टि में १००, देशविरत आदि गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अचक्षुदर्शन—इस मार्गणा में भी बारह गुणस्थान होते हैं। इसमें जिननाम के बिना सामान्य से १२१, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियाँ होती हैं। शेष गुणस्थानों में क्रमशः १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९ और ५७ का उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अवधिदर्शन—यहाँ चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते हैं। सिद्धान्त के मतानुसार विभंगज्ञानी को भी अवधिदर्शन कहा है। अतएव उसके मत में आदि के तीन गुणस्थान भी होते हैं। परन्तु कर्मग्रन्थ के मत में विभंगज्ञानी को अवधिदर्शन नहीं होता है। अतएव अवधिज्ञानी के समान सामान्य से १०६ व अविरत गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ होती हैं। आगे के गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

केवलदर्शन—यहाँ अन्तिम दो गुणस्थान होते हैं और उनमें ४२ तथा १२ प्रकृतियों का अनुक्रम से उदय समझना चाहिए।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्या—यहाँ पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा प्रथम से लेकर छह गुणस्थान होते हैं। जिननाम के बिना सामान्य से १२१ प्रकृतियाँ होती हैं, परन्तु प्रतिपद्यमान की अपेक्षा आदि के चार गुणस्थान होते हैं। उस अपेक्षा से आहारकद्विक के बिना सामान्य से ११९ प्रकृतियाँ होती हैं और मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में अनुक्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७ और ८१ प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

तेजोलेश्या—इसमें पहले से लेकर अप्रमत्त तक सात गुणस्थान होते हैं। इसमें सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, नरकत्रिक, आतपनाम और जिननाम इन ११ प्रकृतियों के बिना सामान्य से १११, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय के सिवाय मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७, मिथ्यात्व के बिना सास्वादन में १०६, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्थावरनाम, एकेन्द्रिय और आनुपूर्वीत्रिक—इन नौ प्रकृतियों के सिवाय और मिश्रमोहनीय के मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ९८, आनुपूर्वीत्रिक और सम्यक्त्वमोहनीय का प्रक्षेप करने और मिश्रमोहनीय को कम करने पर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १०१, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, आनुपूर्वीत्रिक, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायु, दुर्भगनाम, अनादेय और अयश इन १४ प्रकृतियों के बिना देशविरत गुणस्थान में ८७, प्रमत्त गुणस्थान में ८१ और अप्रमत्त में ७६ प्रकृतियाँ होती हैं।

पद्मलेश्या—इसमें सात गुणस्थान होते हैं। इसमें स्थावरचतुष्क, जाति-चतुष्क, नरकत्रिक, जिननाम और आतप इन तेरह प्रकृतियों के बिना सामान्य से १०९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक के देवों के पद्मलेश्या होती है और वे मरकर एकेन्द्रिय में नहीं जाते हैं, तथा नरक में पहली तीन लेश्याएँ होती हैं और जिननाम का उदय शुक्ललेश्या वाले को ही होता है। अतएव स्थावरचतुष्क आदि तेरह प्रकृतियों का विच्छेद कहा है। आहारकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय—इन चार प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५, सास्वादन में मिथ्यात्व के बिना १०४, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक इन सात प्रकृतियों को कम करने और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर ९८ प्रकृतियाँ मिश्र गुणस्थान में होती हैं। उनमें से मिश्रमोहनीय को कम करके और आनुपूर्वीत्रिक तथा

सम्यक्त्वमोहनीय को मिलाने से १०१ प्रकृतियाँ अविरत गुणस्थान में होती हैं। उनमें से अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, आनुपूर्वीत्रिक, देवगति, देवायु, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन चौदह प्रकृतियों के बिना देशविरत गुणस्थान में ८७, प्रमत्त में ८१ और अप्रमत्त में ७६ प्रकृतियाँ होती हैं।

शुक्ललेश्या—इसमें तेरह गुणस्थान हैं। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, नरकत्रिक और आतप नाम—इन १२ प्रकृतियों के बिना सामान्य से ११० प्रकृतियाँ होती हैं। आहारकद्विक, सम्यक्त्व, मिश्र और जिननाम इन पाँच प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व में १०५ प्रकृतियाँ होती हैं। मिथ्यात्व के बिना सास्वादन में १०४, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक को कम करके मिश्रमोहनीय को मिलाने से मिश्र गुणस्थान में ९८, अविरत गुणस्थान में १०१ और देशविरति में ८७ प्रकृतियाँ होती हैं। आगे के गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

भव्य—यहाँ चौदह गुणस्थान होते हैं और उनमें सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अभव्य—इसमें सिर्फ पहला गुणस्थान होता है। सम्यक्त्व, मिश्र, जिननाम और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के बिना सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियाँ होती हैं।

उपशम सम्यक्त्व—इस मार्गणा में चौथे से लेकर ग्यारहवें तक आठ गुणस्थान होते हैं। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, जिननाम, आहारकद्विक, आतपनाम और आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेईस प्रकृतियों के बिना सामान्य से और अविरत गुणस्थान में ९९ प्रकृतियाँ होती हैं। अन्य आचार्य के मत से उपशम सम्यग्दृष्टि आयु पूर्ण होने से मरकर अनुत्तर देवलोक तक उत्पन्न होता है, तो उस समय उसे अविरत गुणस्थान में देवानुपूर्वी का उदय होता है, इस अपेक्षा सामान्य से और अविरत गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ होती हैं। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकायु, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन १४ प्रकृतियों के बिना देश-

विरत गुणस्थान में ८५ या ८६ प्रकृतियाँ होती हैं। तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीच गोत्र, उद्योत और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ प्रकृतियों के बिना प्रमत्त गुणस्थान में ७८, स्त्यानर्द्धित्रिक के बिना अप्रमत्त गुणस्थान में ७५ और अन्तिम तीन संहनन के बिना अपूर्वकरण में ७२ प्रकृतियाँ होती हैं और उसके बाद आगे के गुणस्थानों में अनुक्रम से ६६, ६०, ५९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व—यहाँ चौथे से लेकर चौदहवें तक ग्यारह गुणस्थान होते हैं। इसमें जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, आतप, सम्यक्त्व, मिश्र, मिथ्यात्व इन १६ प्रकृतियों के बिना सामान्य से १०६, आहारकद्विक और जिननाम इन तीन प्रकृतियों के बिना अविरत गुणस्थान में १०३, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियाष्टक, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचत्रिक, दुर्भग, अनादेय, अयश और उद्योत – इन २० प्रकृतियों के बिना देशविरत गुणस्थान में ८३ प्रकृतियाँ होती हैं। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क व नीच गोत्र को कम करके आहारकद्विक के मिलाने पर प्रमत्त गुणस्थान में ८० प्रकृतियाँ होती है। स्त्यानर्द्धित्रिक, आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के बिना अप्रमत्त गुणस्थान में ७५, अपूर्वकरण में अन्तिम तीन संहनन कम करने से ७२ तथा आगे गुणस्थानों में उदयस्वामित्व के समान समझना चाहिए।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इसमें चौथे से लेकर सातवें तक चार गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्व, मिश्र, जिननाम, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, आतप और अनन्तानुबन्धीचतुष्क इन सोलह प्रकृतियों के बिना सामान्य से १०६, आहारकद्विक के बिना अविरत गुणस्थान में १०४, देशविरत गुणस्थान में ८७, प्रमत्त में ८१ और अप्रमत्त में ७६ प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

मिश्र सम्यक्त्व—इसमें एक तीसरा मिश्र गुणस्थान होता है और उसमें १०० प्रकृतियों का उदय होता है।

सास्वादन—यहाँ सिर्फ दूसरा सास्वादन गुणस्थान होता है और उसमें १११ प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

मिथ्यात्व—इसमें प्रथम गुणस्थान होता है और उसमें आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व और मिश्र इन पाँच प्रकृतियों के बिना ११७ प्रकृतियों का उदय होता है।

संज्ञी—इसमें चौदह गुणस्थान होते हैं। द्रव्यमन के सम्बन्ध से केवलज्ञानी को संज्ञी कहा है, अतः यहाँ चौदह गुणस्थान होते हैं। परन्तु यदि मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमजन्य मनन-परिणामरूप भावमन के सम्बन्ध से संज्ञी कहें तो इस मार्गणा में बारह गुणस्थान होते हैं। इसमें स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और जातिचतुष्क—इन आठ प्रकृतियों के बिना सामान्य से ११४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। यदि भावमन के सम्बन्ध से संज्ञी कहें तो संज्ञी मार्गणा में जिननाम का उदय न होने से उसे कम करने पर ११३ प्रकृतियाँ होती हैं। आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व में १०९, अपर्याप्त नाम, मिथ्यात्व, नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियों के बिना सास्वादन में १०६ प्रकृतियाँ होती हैं। अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक—इन सात प्रकृतियों के सिवाय और मिश्रमोहनीय के मिलने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ होती हैं और अविरत आदि आगे के गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

असंज्ञी—इसमें आदि के दो गुणस्थान होते हैं। वैक्रियाष्टक, जिननाम, आहारकद्विक, सम्यक्त्व, मिश्रमोहनीय, उच्चगोत्र, स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन सोलह प्रकृतियों के बिना सामान्य से १०६ प्रकृतियाँ होती हैं। उसमें से सूक्ष्मत्रिक, आतप, उद्योत, मनुष्यत्रिक, मिथ्यात्व, पराघात, उच्छ्वास, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति—इन पन्द्रह प्रकृतियों के बिना सास्वादन में ९१ प्रकृतियाँ होती हैं। पंचसंग्रह में उदयस्थानक में असंज्ञी को छह संहनन और छह संस्थान के भांगे दिये हैं, इसलिए उसे छह संहनन और छह संस्थान तथा सुभग, आदेय और शुभ विहायोगति का भी उदय होता है।

आहारक—इसमें तेरह गुणस्थान होते हैं। आनुपूर्वीचतुष्क के बिना सामान्य से ११८, आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय—इन पांच प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में ११३, सूक्ष्मत्रिक, आतप और मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन में १०८, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्थावर नाम और जातिचतुष्क—इन नौ प्रकृतियों को कम करने और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में

१००, उनमें से मिश्र मोहनीय को निकालकर बदले में सम्यक्त्वमोहनीय को जोड़ने से अविरत गुणस्थान में १००, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायु, नरकगति, नरकायु, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन तेरह प्रकृतियों के बिना देशविरत गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ होती हैं। आगे के गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अनाहारक—इस मार्गणा में १, २, ४, १३ और १४—ये पाँच गुणस्थान होते हैं। औदारिकद्विक वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, संहननषट्क, संस्थानषट्क, विहायोगतिद्विक, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रत्येक, साधारण, सुस्वर, दुःस्वर, मिश्रमोहनीय और निद्रापंचक—इन ३५ प्रकृतियों के बिना सामान्य से ८७, जिननाम और सम्यक्त्वमोहनीय—इन दो प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व में ८५, सूक्ष्म, अपर्याप्त, मिथ्यात्व और नरकत्रिक—इन छह प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन में ७९ प्रकृतियाँ होती हैं। मिश्र गुणस्थान में कोई अनाहारक नहीं होता है। अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्थावर और जातिचतुष्क—इन नौ प्रकृतियों के बिना और सम्यक्त्वमोहनीय तथा नरकत्रिक इन चार प्रकृतियों को मिलाने पर अविरत गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ होती हैं। वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, जिननाम, त्रसत्रिक, सुभग, आदेय, यश, मनुष्यायु, वेदनीयद्विक और उच्चगोत्र—ये पच्चीस प्रकृतियाँ तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में केवलिसमुद्घात करने पर तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में उदय होती हैं। त्रसत्रिक, मनुष्यगति, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, जिननाम, साता अथवा असाता में से कोई एक वेदनीय, सुभग, आदेय, यश और पंचेन्द्रिय जाति—ये बारह प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में उदय होती हैं। यहाँ सर्वत्र उदय में उत्तरवैक्रिय की विवक्षा नहीं की है। सिद्धान्त में पृथ्वी, अप् और वनस्पति को सास्वादन गुणस्थान नहीं बताया है, सास्वादन गुणस्थान वाले को मतिश्रुतज्ञानी कहा है। विभंगज्ञानी को अवधिदर्शन कहा है और वैक्रियमिश्र तथा आहारकमिश्र में औदारिकमिश्र कहा है, परन्तु वह कर्मग्रन्थ में विवक्षित नहीं है।

उदीरणास्वामित्व

उदय-समय से लेकर एक आवलिका तक के काल को उदयावलिका कहते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्मपुद्गल को कोई भी करण लागू नहीं पड़ता है। उदयावलिका के बाहर रहे हुए कर्मपुद्गल को उदयावलिका के कर्मपुद्गल के साथ मिलाकर भोगने को उदीरणा कहते हैं। जिस जाति के कर्मों का उदय हो, उसी जाति के कर्मों की उदीरणा होती है। इसलिए सामान्य रीति से जिस मार्गणा में जिस गुणस्थान में जितनी कर्मप्रकृतियों का उदय होता है, उस मार्गणा में उस गुणस्थान में उतनी प्रकृतियों की उदीरणा भी होती है; परन्तु इतना विशेष है कि जिस प्रकृति को भोगते हुए उसकी सत्ता में मात्र एक आवलिका काल में भोगने योग्य कर्मपुद्गल शेष रहें, तब उसकी उदीरणा नहीं होती है, अर्थात् उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म उदीरणा-योग्य नहीं रहता तथा शरीरपर्याप्ति पूर्ण होने के बाद जब तक इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण न हो, तब तक पाँच निद्राओं की उदीरणा नहीं होती, उदय रहता है। छठे गुणस्थान से आगे मनुष्यायु, साता और असाता वेदनीय कर्म की तद्योग्य अध्यवसाय के अभाव में उदीरणा नहीं होती है, उदय ही होता है तथा चौदहवें गुणस्थान में योग के अभाव में किसी भी प्रकृति की उदीरणा नहीं होती है, सिर्फ उदय ही होता है।

सत्तास्वामित्व

उदय-उदीरणा-स्वामित्व के अनन्तर ६२ उत्तर-मार्गणाओं में प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते हैं। सत्ताधिकार में १४८ प्रकृतियाँ विवक्षित हैं।

नरकगति और देवगति—इन दोनों मार्गणाओं में एक दूसरे के देवायु और नरकायु के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्योंकि नरकगति में देवायु की और देवगति में नरकायु की सत्ता नहीं होती है। मिथ्यात्व गुणस्थान में देवगति में जिननाम की सत्ता नहीं होती है, परन्तु नरकगति में होती है, इसलिए देवगति में मिथ्यात्व गुणस्थान में १४६ और नरकगति में १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में जिननाम के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। अविरत गुणस्थान में क्षायिक

सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीचतुष्क, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और दो आयु—इन नौ प्रकृतियों के बिना १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के एक आयु के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्योंकि नारकों के देवायु और देवों के नरकायु सत्ता में नहीं होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तिर्यंचायु भी सत्ता में नहीं होती है।

मनुष्यगति—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में जिननाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि (अचरमशरीरी) चारित्रमोह के उपशमक को तिर्यंचायु, नरकायु, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक—इन नौ प्रकृतियों के बिना १३९ प्रकृतियां सत्ता में होती हैं और चरमशरीरी चारित्रमोह के उपशमक उपशमसम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबन्धी-चतुष्क की विसंयोजना करने के बाद तीन आयु के सिवाय १४१ प्रकृतियां सत्ता में होती हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि भविष्य में क्षपकश्रेणी का प्रारम्भ करने वाले चरमशरीरी को नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ की सत्ता होती है और अनन्तानुबन्धीचतुष्क तथा दर्शनमोहनीय-त्रिक—इन सात प्रकृतियों का क्षय करने के बाद १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। भविष्य में उपशम श्रेणी के प्रारम्भक उपशमसम्यग्दृष्टि (अचरम शरीरी) को नरक और तिर्यंच आयु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की और अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसंयोजना करने के बाद १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त—इन तीन गुणस्थानों में उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी का आश्रय लेने वाले के चौथे गुणस्थान जैसी सत्ता होती है।

अपूर्वकरण गुणस्थान में चारित्रमोह के उपशमक उपशमसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तिर्यंचायु और नरकायु—इन छह प्रकृतियों के बिना १४२ प्रकृतियां सत्ता में होती हैं। चारित्रमोह के उपशमक क्षायिक सम्यग्दृष्टि

के दर्शनसप्तक, नरकायु और तिर्यंचायु के बिना १३६ प्रकृतियों की सत्ता होती है और क्षपक श्रेणी के पूर्व में कहे गये अनुसार सत्ता होती है।

अनिवृत्त्यादि गुणस्थान में दूसरे कर्मग्रन्थ में कहे गये सत्ताधिकार के समान यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

तिर्यंचगति—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र गुणस्थान में जिननाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। अविरत गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि को दर्शनसप्तक, नरकायु और मनुष्यायु के सिवाय १३८ और उपशम सम्यग्दृष्टि तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को जिन-नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

देशविरत गुणस्थान में औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के जिननाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच असंख्यात वर्ष के आयुष्य वाला होता है और उसको देशविरत गुणस्थान नहीं होता है।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय—इन चार मार्गणाओं (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति) में सामान्य से और मिथ्यात्व, सास्वादन गुणस्थान में जिननाम, देवायु और नरकायु के सिवाय १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। परन्तु सास्वादन गुणस्थान में आयु का बन्ध नहीं होने की अपेक्षा से मनुष्यायु के सिवाय १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

पंचेन्द्रिय—इस मार्गणा में मनुष्यगति के अनुसार सत्ता समझना चाहिए।

पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकाय—इन तीन मार्गणाओं में एकेन्द्रिय मार्गणा के समान सत्ता समझना चाहिए।

तेजस्काय और वायुकाय—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिननाम, देव, मनुष्य और नरकायु—इन चार प्रकृतियों के बिना १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

त्रसकाय—यहाँ मनुष्यगति प्रमाण सत्ता समझना चाहिए।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग—इन तीन मार्गणाओं में मनुष्यगति मार्गणा की तरह तेरह गुणस्थान तक सत्ता समझना चाहिए।

तीन वेद, क्रोध, मान, माया—इनमें मनुष्यगतिमार्गणा की तरह नौ गुणस्थान तक सत्ता समझना चाहिये।

लोभ—यहाँ मनुष्यगति के समान दस गुणस्थान तक सत्ता समझना चाहिए।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान—इन तीन मार्गणाओं में मनुष्यगति-मार्गणा के समान चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

मनःपर्यायज्ञान—यहाँ सामान्य से तिर्यंचायु और नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है और छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मनुष्यगतिमार्गणा के समान सत्तास्वामित्व जानना चाहिए।

केवलज्ञान—यहाँ मनुष्यगति के समान अन्तिम दो गुणस्थानों में कहा गया सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

मत्यज्ञान, श्रुतज्ञान और विभंगज्ञान—इनमें सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ और दूसरे, तीसरे गुणस्थान में जिननाम के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

सामायिक और छेदोपस्थानीय—इन दो मार्गणाओं में सामान्य से १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है और इनमें छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक मनःपर्यायज्ञानमार्गणा के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

परिहारविशुद्धि—इसमें छठे और सातवें गुणस्थान में कहे गये अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

सूक्ष्मसंपराय—इसमें सामान्य से तिर्यंचायु और नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है अथवा अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसंयोजना करने वाले को अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तिर्यंचायु और नरकायु इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यथाख्यात—यहाँ ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगतिमार्गणा के समान समझना चाहिए।

देशविरत—यहाँ सामान्य से १४८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। इसमें एक पाँचवाँ गुणस्थान ही होता है और उसमें मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

अविरत—यहाँ पहले से चौथे गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगति मार्गणा के समान समझना चाहिए।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन—इन दोनों मार्गणाओं में पहले से बारहवें गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगति मार्गणा के समान समझना चाहिए।

अवधिदर्शन—यहाँ अवधिज्ञानमार्गणा के अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

केवलदर्शन—केवलज्ञानमार्गणा के सदृश सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्या—तीन मार्गणाओं में पहले से लेकर छठे गुणस्थान तक मनुष्यगति के अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

तेज और पद्म लेश्या—पहले से सातवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

शुक्ललेश्या—पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता समझना चाहिए।

भव्य—मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

अभव्य—सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिननाम, आहारकचतुष्क, सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियों के बिना १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

औपशमिक सम्यक्त्व—चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता समझना चाहिए।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इसमें चौथे से सातवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता समझना चाहिए।

क्षायिक सम्यक्त्व—यहाँ अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियों के बिना सामान्य से १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है और चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

सास्वादन—यहाँ सामान्य से और दूसरे गुणस्थान में जिननाम के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

मिथ्यात्व—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं।

संज्ञी—पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता-स्वामित्व जानना चाहिए। इसमें केवलज्ञानी को द्रव्यमन के सम्बन्ध से संज्ञी कहा है। यदि भावमन की अपेक्षा रखी जाय तो संज्ञी मार्गणा में बारह गुणस्थान होते हैं।

असंज्ञी—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिननाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है और सास्वादन गुणस्थान में नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है, परन्तु यहाँ अपर्याप्तावस्था में देवायु और मनुष्यायु का बंध करने वाला कोई संभव नहीं है, इसलिए उस अपेक्षा से १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारक—पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति मार्गणा के समान सत्तास्वामित्व जानना चाहिए।

अनाहारक—इस मार्गणा में पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवां और चौदहवां ये पांच गुणस्थान होते हैं और उनमें मनुष्यगति के समान सत्ता जानना चाहिए।

इस प्रकार उदय, उदीरणा और सत्तास्वामित्व का विवेचन पूर्ण हुआ।

विशेष—

अपनी निकटतम जानकारी के अनुसार मार्गणाओं में उदय, उदीरणा एवं सत्ता स्वामित्व का विवरण प्रस्तुत किया है। संभवतः कोई त्रुटि या अस्पष्टता रह गई हो तो विज्ञ पाठकों से सानुरोध निवेदन है कि संशोधन कर सूचित करने की कृपा करें जिससे अपनी धारणा व त्रुटि का परिमार्जन कर सकें। उनके सहकार एवं मार्गदर्शन के लिये आभारी रहेंगे।

—सम्पादक

मार्गणाओं में बन्ध, उदय और सत्ता-स्वामित्व विषयक दिगम्बर कर्मसाहित्य का मन्तव्य

तृतीय कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों के आधार से मार्गणाओं में बंधस्वामित्व का कथन किया गया है। इसी प्रकार से गोम्मटसार कर्मकाण्ड में गाथा १०५ से १२१ तक में भी किया गया है तथा सामान्य से उसको जानने के लिए जिन बातों की जानकारी आवश्यक है, उनका संकेत भी गाथा ९४ से १०४ में है।

गुणस्थानों के आधार से मार्गणाओं में उदयस्वामित्व का विचार प्राचीन व नवीन तृतीय कर्मग्रन्थ में नहीं है, वह भी गो० कर्मकाण्ड में गा० २९० से ३३२ तक में किया गया है तथा इसके लिए आवश्यक संकेत गाथा २६३ से २८९ तक में संगृहीत हैं। इस उदयस्वामित्व प्रकरण में उदीरणास्वामित्व का विचार भी सम्मिलित है। इसी प्रकार मार्गणाओं में सत्तास्वामित्व का विचार भी गो० कर्मकाण्ड में है, किन्तु कर्मग्रन्थ में नहीं। यह प्रकरण गो० कर्मकाण्ड में गाथा ३४६ से ३५६ तक है तथा इसके लिए सामान्य संकेत गाथा ३३३ से ३४५ में है।

कर्मशास्त्र के अध्येताओं को उक्त अंश तुलनात्मक अध्ययन करने एवं विषयज्ञान की दृष्टि से उपयोगी होने से कतिपय आवश्यक अंश उद्धृत किये जाते हैं। पूर्ण विवरण के लिए गो० कर्मकाण्ड के उक्त अंशों को देख लेना चाहिए।

बन्धस्वामित्व

गुणस्थानों पूर्वक मार्गणाओं में बंधस्वामित्व का विवेचन करने के लिए गुणस्थानों में सामान्य से बन्धयोग्य, अबन्धयोग्य तथा बन्धविच्छिन्न होने वाली कर्मप्रकृतियों की संख्या को तीन गाथाओं द्वारा बतलाते हैं—

बंध प्रकृतियों की संख्या

सत्तरसेकग्गसयं चउसत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी ।
बंधा णवट्ठवण्णा दुवीस सत्तारसेकोघे ।।१०३।।

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १, इस प्रकार का बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक होता है। चौदहवें गुणस्थान में बन्ध नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि सामान्य से बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ हैं, उनमें से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से १२०—३=११७ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। इसी प्रकार से द्वितीय आदि गुणस्थानों में भी समझना चाहिए कि जैसे पहले गुणस्थान में व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ १६ हैं और ३ प्रकृतियाँ अबन्ध हैं तो १६+३=१९ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान में अबन्धरूप हैं, यानी १९ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार आगे के गुणस्थानों में भी व्युच्छिन्न प्रकृतियों को घटाने से प्रत्येक गुणस्थान की बन्धसंख्या निकल आती है।

अबन्ध प्रकृतियों की संख्या

तिय उणवीसं छत्तियतालं तेवण्ण सत्तवण्णं च ।
इगिदुगसट्ठी विरहिय सय तियउणवीससहिय वीससयं ।।१०४।।

मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों में क्रम से ३, १९, ४६, ४३, ५३, ५७, ६१, ६२, ९८, १०३, ११९, ११९, ११९ और १२० प्रकृतियाँ अबन्ध हैं। अर्थात् ऊपर लिखी गई संख्या के अनुसार प्रत्येक गुणस्थान में कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है।

बन्धव्युच्छिन्न प्रकृतियों की संख्या

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क बन्धवोच्छिण्णा ।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ।।९४।।

मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों में क्रमशः १६, २५, ० (शून्य)[1], १०, ४, ६, १, ३६ (२ + ३० + ४), ५, १६, ०, ०, ०, १ प्रकृति व्युच्छिन्न[2] होती है।

गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्ध का सामान्य नियम इस प्रकार है—

सम्मेव तित्थबन्धो आहारदुगं पमादरहिदेसु।
मिस्सूणे आउस्स य मिच्छादिसु सेसबन्धोदु ॥९२॥

अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है। आहारकद्विक का अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में बन्ध होता है। मिश्र गुणस्थान में आयु का बन्ध नहीं होता है तथा शेष प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टि आदि आदि गुणस्थानों में अपने बन्ध की व्युच्छित्ति तक होता है।

मार्गणाओं में बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति

मार्गणाओं में कर्मप्रकृतियों का बन्ध, अबन्ध और बन्धव्युच्छित्ति—ये तीनों अवस्थाएँ गुणस्थान के समान समझना चाहिए। लेकिन उनमें जो-जो विशेषता है, उसको गति आदि प्रत्येक मार्गणा की अपेक्षा क्रमशः स्पष्ट करते हैं।

गतिमार्गणा

ओघे वा आदेसे णारयमिच्छम्हि चारि वोच्छिण्णा।
उवरिम बारस सुरचउ सुराउ आहारयमबन्धा ॥१०५॥

मार्गणाओं में व्युच्छित्ति आदि गुणस्थानों के समान समझना, लेकिन मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छिन्न होने वाली सोलह प्रकृतियों में से नरकगति

---

१ किसी भी प्रकृति का बन्धविच्छेद नहीं।

२ व्युच्छिन्न नाम है बिछुड़ने का। जिस गुणस्थान में कर्मों की व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों की संख्या कही गई है, उसका अर्थ यह है कि उस गुणस्थान तक तो उस प्रकृति का संयोग रहता है, उसके आगे के गुणस्थान में उसका बन्ध, उदय और सत्ता नहीं रहती है।

में मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, नपुंसक वेद, सेवार्त संहनन इन चार की व्युच्छित्ति होती है तथा इनके अतिरिक्त शेष बारह प्रकृतियाँ तथा देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवायु, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग— ये सब १९ प्रकृतियाँ अबन्ध हैं। अर्थात् नरकगति के मिथ्यात्व गुणस्थान में १९ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। अतएव सामान्य से बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियाँ हैं।

घम्मे तित्थं बन्धदि वंसामेघाण पुण्णगो चेव।
छट्ठोत्ति य मणुवाऊ चरिमे मिच्छेव तिरियाऊ ॥१०६॥

घर्मा (प्रथम नरक) में पर्याप्त, अपर्याप्त—दोनों अवस्थाओं में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। दूसरे, तीसरे (वंशा, मेघा) नरक में पर्याप्त जीव को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है। छठे (मघवी) नरक तक मनुष्यायु का बन्ध होता है। सातवें (माघवी) नरक में मिथ्यात्व गुणस्थान में ही तिर्यंचायु का बन्ध होता है।

मिस्साविरदे उच्चं मणुवदुगं सत्तमे हवे बंधो।
मिच्छा सासणसम्मा मणुवदुगुच्चं ण बंधंति ॥१०७॥

सातवें नरक में मिश्र और अविरत गुणस्थान में ही उच्च गोत्र, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी इन तीन प्रकृतियों का बंध है। मिथ्यात्व व सास्वादन गुणस्थान वाले जीव वहाँ पर उच्च गोत्र और मनुष्यद्विक—इन तीन प्रकृतियों को नहीं बांधते हैं।

तिरिये ओघो तित्थाहारूणो अविरदे छिदी चउरो।
उवरिमछण्हं च छिदी सासणसम्मे हवे णियमा ॥१०८॥

तिर्यंचगति में भी व्युच्छित्ति आदि गुणस्थानों की तरह ही समझना। परन्तु इतनी विशेषता है कि तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—इन तीन प्रकृतियों का बन्ध ही नहीं होता है। अतः सामान्य से ११७ प्रकृतियाँ तिर्यंचगति में बन्धयोग्य हैं। चौथे अविरत गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि ४ की ही व्युच्छित्ति होती है तथा शेष रही मनुष्यगति-योग्य वज्र-

ऋषभनाराच संहनन आदि छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति दूसरे सास्वादन गुण-स्थान में हो जाती है। क्योंकि यहाँ पर तिर्यंच मनुष्यगति नरकसम्बन्धी प्रकृतियों का मिथ्यादिक में बन्ध नहीं होता है।

उक्त कथन तिर्यंच के सामान्य तिर्यंच (इन भेदों का समुच्चय रूप), पंचेन्द्रिय तिर्यंच, पर्याप्त तिर्यंच, स्त्रीवेद तिर्यंच और लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंच—इन पाँच भेदों में से लब्ध्यपर्याप्त भेद को छोड़कर शेष चार प्रकार के तिर्यंचों की अपेक्षा समझना चाहिए। लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचों के तीर्थङ्कर नाम और आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—इन तीन प्रकृतियों के साथ निम्न-लिखित—

सुरणिरयाउ अपुण्णे वेगुव्वियछक्कमवि णत्थि ॥१०९॥

देवायु, नरकायु और वैक्रियषट्क—देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय-अंगोपांग—इन आठ प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता है।

तिरियेव णरे णवरि हु तित्थाहारं च अत्थि एमेव ॥११०॥

मनुष्यगति में बन्धव्युच्छित्ति वगैरह तिर्यंचगति के समान समझना चाहिए, लेकिन इसकी विशेषता है कि मनुष्यगति में तीर्थङ्कर और आहारक-द्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—इन तीन का भी बन्ध होने से १२० प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। मनुष्यगति में गुणस्थान १४ होते हैं, अतः गुण-स्थानों की तरह मनुष्यगति में भी बन्धविच्छेद समझना चाहिए।

मनुष्यगति में उक्त प्रकृतिबन्ध व विच्छेद सामान्य से बताया है, किन्तु लब्धि-अपर्याप्त मनुष्य के बन्ध आदि तिर्यंच लब्धि-अपर्याप्त के समान समझना चाहिए। अर्थात् लब्धि-अपर्याप्त मनुष्य के भी १०९ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

णिरयेव होदि देवे आईसाणोत्ति सत्त वाम छिदी।
सोलस चेव अबन्धा भवणतिए णत्थि तित्थयरं ॥१११॥

देवगति में कर्मप्रकृतियों का बन्धविच्छेद आदि नरकगति के समान

समझना चाहिए। परन्तु इतनी विशेषता है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ईशान स्वर्ग तक पहले गुणस्थान की सोलह प्रकृतियों में से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों की ही व्युच्छित्ति होती है। शेष रही हुई सूक्ष्मादि नौ तथा देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवायु, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—ये ७ कुल सोलह अबन्धरूप हैं। इसलिए यहाँ बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १०४ हैं। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होने से १०३ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

इन्द्रिय व काय मार्गणा

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु सासणो देहे।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥११३॥

एकेन्द्रिय और विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) में लब्धि-अपर्याप्त अवस्था की तरह बन्धयोग्य १०९ प्रकृतियाँ समझना चाहिए। क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में तीर्थंकर, आहारकद्विक, देवायु, नरकायु और वैक्रिय-षट्क—इन ११ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। एकेन्द्रिय एवं विकलत्रय के पहला और दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं। इनमें से पहले गुणस्थान में बन्धव्युच्छित्ति १५ प्रकृतियों की होती है। क्योंकि यद्यपि पहले गुणस्थान में १६ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद कहा गया है, परन्तु यहाँ पर उनमें से नरक-द्विक और नरकायु छूट जाती है तथा मनुष्यायु और तिर्यंचायु बढ़ जाती है। अतः १५ का ही विच्छेद होता है। मनुष्यायु और तिर्यंचायु के बन्धविच्छेद को पहले गुणस्थान में कहने का कारण यह है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में उत्पन्न हुआ जीव सास्वादन गुणस्थान में शरीरपर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सकता, क्योंकि सास्वादन गुणस्थान का काल अल्प है और निर्वृत्ति अपर्याप्त अवस्था का काल अधिक। इस कारण सास्वादन गुणस्थान में मनुष्यायु व तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता है और प्रथम गुणस्थान में ही बन्ध और विच्छेद होता है।

पंचेन्दियेसु ओघं एयक्खे वा वणप्फदीयते।
मणुवदुगं मणुवाऊ उच्चं ण हि तेउ वाउम्हि ॥११४॥

पंचेन्द्रिय जीवों के व्युच्छित्ति आदि गुणस्थान की तरह समझना चाहिए। कायमार्गणा में पृथ्वीकाय आदि वनस्पतिकायपर्यन्त में एकेन्द्रिय की तरह व्युच्छित्ति आदि जानना। विशेषता यह है कि तेजस्काय तथा वायुकाय में मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु और उच्च गोत्र—इन चार प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है और गुणस्थान एक मिथ्यादृष्टि ही है।

योगमार्गणा

ओघं तस मणवयणे ओराले मणुवगइभंगो ॥११५॥

त्रसकाय में बन्ध-विच्छेद आदि गुणस्थानों की तरह समझना चाहिए। योगमार्गणा में मनोयोग तथा वचनयोग की रचना भी गुणस्थानों की तरह है तथा औदारिक काययोग में बन्ध-विच्छेद आदि मनुष्यगति के समान है।

ओराले वा मिस्से ण सुरणिरयाउहारणिरयदुगं।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि ॥११६॥

औदारिकमिश्र काययोग में औदारिक काययोग की तरह बन्ध-विच्छेद आदि है, लेकिन इतनी विशेषता है कि देवायु, नरकायु, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, नरकगति, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, अर्थात् ११४ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इनमें भी मिथ्यात्व और सास्वादन—इन दो गुणस्थानों में देवचतुष्क और तीर्थंकर नाम—इन पाँच प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, किन्तु चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में इनका बन्ध होता है।

पण्णारसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो।
उवरिमपणसट्ठीवि य एक्कं सादं सजोगिम्हि ॥११७॥

औदारिकमिश्र काययोग में मिथ्यात्व और सास्वादन इन दो गुणस्थानों में १५ व २९ प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद क्रम से जानना चाहिए। चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ऊपर की चार तथा अन्य ६५—कुल मिलाकर ६९ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय की व्युच्छित्ति होती है।

देवे वा वेगुव्वे मिस्से णरतिरियआउगं णत्थि ।
छट्ठगुणंवाहारे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ ॥११८॥

वैक्रिय काययोग में देवगति के समान बंधविच्छेद आदि समझना चाहिए। वैक्रियमिश्र काययोग में सौधर्म-ऐशान सम्बन्धी अपर्याप्त देवों के समान बंध-व्युच्छित्ति है, किन्तु उस मिश्र में मनुष्यायु और तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता है। आहारक काययोग में छठे गुणस्थान जैसा बन्धविच्छेद आदि होता है। आहारक मिश्रयोग में देवायु का बन्ध नहीं होता है।

कम्मे उरालमिस्सं वा णाउदुगंपि णव छिदी अयदे ।

कार्मण काययोग में बन्धविच्छेद आदि औदारिकमिश्र काययोग के सदृश है, लेकिन विग्रहगति में आयु का बन्ध न होने से मनुष्यायु तथा तिर्यंचायु—इन दो का भी बन्ध नहीं होता है और चौथे गुणस्थान में नौ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है।

वेद से आहारक मार्गणा पर्यन्त

वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघं तु ॥११९॥
णवरि य सव्वुवसम्मे णरसुरआऊणि णत्थि णियमेण ।
मिच्छस्संतिम णवयं बारं ण हि तेउपम्मेसु ॥१२०॥
सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमबारसं च ण व अत्थि ।
कम्मेव अणाहारे बंधस्संतो अणंतो य ॥१२१॥

वेदमार्गणा से लेकर आहारकमार्गणा तक का कथन गुणस्थानों के साधारण कथन जैसा समझना चाहिए।

लेकिन सम्यक्त्वमार्गणा तथा लेश्यामार्गणा की शुभ लेश्याओं में और आहारमार्गणा की कुछ विशेषता है कि—

सम्यक्त्वमार्गणा में सभी, अर्थात् दोनों ही उपशम सम्यक्त्वी जीवों के मनुष्यायु और देवायु का बन्ध नहीं होता। लेश्यामार्गणा में तेजोलेश्या वाले के मिथ्यात्व गुणस्थान की अन्त की नौ तथा पद्मलेश्या वाले के मिथ्यात्व गुणस्थान की अन्त की बारह प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। शुक्ललेश्या

वाले के उद्योतचतुष्क (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, उद्योत) और मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त की १२ कुल मिलाकर १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। आहारमार्गणा में अनाहारक अवस्था में कार्मणयोग जैसा बन्धविच्छेद आदि समझना चाहिए।

उदय एवं उदीरणा-स्वामित्व

मार्गणाओं में उदय और उदीरणा-स्वामित्व का कथन करने के पूर्व निम्नांकित गाथाओं में सामान्य नियमों को बतलाते हैं—

गुणस्थानों में उदय-प्रकृतियाँ

सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं सगिगिसीदि छदुसदरी।
छावट्ठि सट्ठि णवसगवण्णास दुदालबारुदया ॥२७६॥

मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों में क्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२, १२ प्रकृतियों का उदय होता है।

अनुदय प्रकृतियाँ[1]

पंचेक्कारसबावीसट्ठारसपंचतीस इगिछादालं।
पण्णं छप्पण्णं बितिपणसट्ठि असीदि दुगुणपणवण्णं ॥२७७॥

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में क्रम से ५, ११, २२, १८, ३५, ४१, ४६, ५०, ५६, ६२, ६३, ६५, ८०, ११० प्रकृतियाँ अनुदय रूप हैं।

उदयविच्छिन्न प्रकृतियाँ

पण णव इगि सत्तरसं अड पंच च चउर छक्क छच्चेव।
इगिदुग सोलस तीसं बारस उदये अजोगंता ॥२६४॥

मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों में क्रमशः ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३० और १२ प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है।

---

१ जिन प्रकृतियों का उदय नहीं होता है, उन्हें अनुदय कहते हैं।

गदिआणुआउउदओ सपदे भूपुण्णबादरे ताओ।
उच्चुदओ णरदेवे थीणतिगुदओ णरे तिरिये ॥२८५॥

किसी विवक्षित भव के पूर्व समय में ही उस विवक्षित भव के योग्य गति, आनुपूर्वी और आयु का उदय होता है। आतप नामकर्म का उदय बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय जीवों को ही होता है। उच्च गोत्र का उदय मनुष्य और देवों को ही होता है और स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओं का उदय मनुष्य और तिर्यंचों के होता है।

स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओं के उदय का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

संखाउगणरतिरिए इन्दियपज्जत्तगादु थीणतियं।
जोग्गमुदेदुं वज्जिय आहारविगुव्वणुट्ठवगे ॥२८६॥

संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों के ही इन्द्रिय-पर्याप्ति के पूर्ण होने के बाद स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओं का उदय हुआ करता है। परन्तु आहारक ऋद्धि और वैक्रिय ऋद्धि के धारक मनुष्यों को इनका उदय नहीं होता है।

अयदापुण्णे ण हि थी संढोवि य घम्मणारयं मुच्चा।
थीसंढयदे कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णाणू ॥२८७॥

निर्वृत्यपर्याप्तक के असंयत गुणस्थान में स्त्रीवेद का उदय नहीं है। इसी प्रकार प्रथम नरक घर्मा (रत्नप्रभा) के सिवाय अन्य तीन गतियों की चतुर्थ गुणस्थानवर्ती निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में नपुंसकवेद का भी उदय नहीं होता है। इसी कारण से स्त्रीवेद वाले तथा नपुंसकवेद वाले असंयत के क्रम से चारों आनुपूर्वी तथा नरक के बिना अन्य की तीन आनुपूर्वी प्रकृतियों का उदय नहीं होता है।

इगिविगलथावरचऊ तिरिए अपुण्णो णरेवि संघडणं।
ओरालदु णरतिरिए वेगुव्वदु देवणेरयिए ॥२८८॥

एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय आदि विकलत्रय और स्थावर आदि चार प्रकृतियों का उदय तिर्यंच के होने योग्य है। अपर्याप्त प्रकृति तिर्यंच व मनुष्य के भी उदय होने योग्य है। वज्रऋषभनाराच आदि छह संहनन और औदारिक शरीर युगल नामकर्म (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग) मनुष्य व तिर्यंच के उदय होने योग्य है। वैक्रिय शरीर व वैक्रिय अंगोपांग ये दो प्रकृतियाँ देव व नारकों के उदययोग्य हैं।

तेउतिगूणतिरिक्खेसुज्जोवो बादरेसु पुण्णेसु।
सेसाणं पयडीणं ओघं वा होदि उदओ दु ॥२८९॥

तेजस्कायिक, वायुकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक—इन तीनों को छोड़कर अन्य बादर पर्याप्तक तिर्यंचों के उद्योत प्रकृति का उदय होता है। इनके अतिरिक्त अन्य शेष रही प्रकृतियों का उदय गुणस्थानों के अनुसार जानना चाहिए।

इस प्रकार से कर्मप्रकृतियों के उदय-नियमों को कहकर अब मार्गणाओं में उदय-प्रकृतियों का कथन करते हैं।

गतिमार्गणा

थीणतिथीपुरिसूणा घादी णिरयाउणीचवेयणियं।
णामे सगवचिठाणं णिरयाणू णारयेसुदया ॥२९०॥

स्त्यानर्द्धि आदि तीन, स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन पाँच के सिवाय घाति कर्मों की ४२ प्रकृतियाँ, नरकायु, नीच गोत्र और साता असाता वेदनीय तथा नामकर्म में से नारकियों के भाषापर्याप्ति के स्थान में होने वाली २९ प्रकृतियाँ तथा नरकगत्यानुपूर्वी ये ७६ प्रकृतियाँ नरकगति में उदय होने योग्य हैं।

२९ प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

वेगुव्वतेजथिरसुहदुग दुग्गदिहुंडणिमिण पंचिन्दी।
णिरयगदि दुब्भगागुरुतसवण्णचऊ य वचिठाणं ॥२९१॥

वैक्रिय, तैजस, स्थिर, शुभ—इनका युगल और अप्रशस्त विहायोगति, हुंड संस्थान, निर्माण, पंचेन्द्री, नरकगति तथा दुर्भग-अगुरुलघु-त्रस-वर्ण

इनका चतुष्क, इस प्रकार कुल मिलाकर ये २६ प्रकृतियाँ नारक जीवों के वचनपर्याप्ति के स्थान पर उदय रूप होती हैं।

> मिच्छमणंतं मिस्सं मिच्छादितिए कमा छिदी अयदे।
> विदियकसाया दुब्भगणादेज्जदुगाउणिरयचउ ॥२६२॥

प्रथम नरक के मिथ्यादृष्टि आदि तीन, गुणस्थानों में क्रम से मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीचतुष्क और सम्यग्मिथ्यात्व यह उदयविच्छिन्न होते हैं और चौथे गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नरकायु, नरकद्विक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग—यह १३ प्रकृतियाँ उदय-विच्छिन्न होती हैं।

> बिदियादिसु छसु पुढविसु एवं णवरि य असंजदट्ठाणे।
> णत्थि णिरयाणुपुव्वी तिस्से मिच्छेव वोच्छेदो ॥२६३॥

दूसरे से लेकर सातवें नरक तक पहले नरक के समान उदयादि जानना, किन्तु इतनी विशेषता है कि असंयत गुणस्थान में नरकानुपूर्वी का उदय नहीं है। इस कारण मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्व प्रकृति के साथ नरकानु-पूर्वी का भी उदयविच्छेद हो जाता है।

> तिरिये ओघो सुरणरणिरयाऊउच्च मणुदुहारदुगं।
> वेगुव्वछक्कतित्थं णत्थि हु एमेव सामण्णे ॥२६४॥

तिर्यंचगति में गुणस्थान के समान ही उदय जानना। परन्तु उनमें से देवायु, मनुष्यायु, नरकायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगतिद्विक, आहारकद्विक तथा वैक्रिय शरीर आदि ६, तथा तीर्थंकर—ये सब १५ प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं हैं। इस कारण १०७ प्रकृतियों का ही उदय हुआ करता है। इसी प्रकार तिर्यंच के पाँच भेदों के सामान्य तिर्यंचों में भी जानना।

> थावरदुगसाहारणताविगिविगलूण ताणि पंचक्खे।
> इत्थिअपज्जत्तूणा ते पुण्णे उदयपयडीओ ॥२६५॥

उक्त सामान्य तिर्यंच की १०७ प्रकृतियों में से स्थावर आदि २, साधारण, आतप, एकेन्द्रिय, विकलत्रय—इन आठ प्रकृतियों को घटा देने पर शेष बची

९९ प्रकृतियाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंच के उदययोग्य हैं और इन ९९ प्रकृतियों में से भी स्त्रीवेद तथा अपर्याप्त इन दो को कम करने से शेष रहीं ९७ प्रकृतियाँ पर्याप्ततिर्यंच के उदययोग्य होती हैं।

तिर्यंचनी के उक्त ९७ प्रकृतियों में से पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद को कम करके और स्त्रीवेद को मिलाने से ९६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उसमें भी चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तिर्यंचानुपूर्वी का उदय नहीं है। लब्ध्यपर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यंच के उक्त ९६ प्रकृतियों में स्त्रीवेद, स्त्यानर्द्धि आदि ३, परघातादि २, तथा पर्याप्त, उद्योत, स्वर युगल, विहायोगतियुगल, यशःकीर्ति, आदेय, समचतुरस्र आदि पाँच संस्थान, वज्रऋषभनाराच आदि पाँच संहनन, सुभग, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व—इन २७ प्रकृतियों को कम करके तथा अपर्याप्त व नपुंसकवेद इन दो प्रकृतियों को मिलाने से कुल ७१ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

> मणुवे ओघो थावरतिरियादावदुगएयवियलिंदी।
> साहरणिदराउतियं वेगुव्वियछक्क परिहीणो ॥२९८॥

सामान्य मनुष्य के गुणस्थानों में कही गई १२२ प्रकृतियों में से स्थावर, तिर्यंचगति, आतप, इन तीनों का युगल और एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, साधारण, मनुष्यायु के अतिरिक्त अन्य तीन आयु और वैक्रिय शरीर आदि छह प्रकृतियों को कम करने से शेष उदययोग्य १०२ प्रकृतियाँ हैं।

> मणुसोघं वा भोगे दुब्भगचउणीचसंढथीणतियं।
> दुग्गदितित्थमपुण्णं संहदिसंठाणचरिमपणं ॥३०२॥
> हारदुहीणा एवं तिरिये मणुदुच्चगोदमणुवाउं।
> अवणिय पक्खिव णीचं तिरियदुतिरियाउउज्जोवं ॥३०३॥

भोगभूमिक मनुष्यों में सामान्य मनुष्य की १०२ प्रकृतियों में से दुर्भग आदि चार, नीच गोत्र, नपुंसकवेद, स्त्यानर्द्धि आदि तीन, अप्रशस्त विहायोगति, तीर्थंकर, अपर्याप्ति, अर्धनाराच आदि पाँच संहनन, न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पाँच संस्थान और आहारक शरीर का युगल इन २४ प्रकृतियों को कम कर देने पर शेष रहीं ७८ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। इसी प्रकार भोगभूमिक

तिर्यंचों में मनुष्यों की तरह ७८ प्रकृतियों में मनुष्यगति आदि दो, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन चार प्रकृतियों को कम करने तथा नीचगोत्र, तिर्यंचगति आदि दो, तिर्यंचायु और उद्योत इन पांच को मिलाने से ७९ प्रकृतियाँ उदय-योग्य हैं।

> भोगं व सुरे णरचउणराउवज्जूण सुरचउसुराउं।
> खिव देवे णो वित्थी इत्थिम्मि ण पुरिसवेदो य ॥३०४॥

सामान्य से देवों में भी भोगभूमिक मनुष्य की तरह ७८ प्रकृतियों में मनुष्यगति आदि चार, मनुष्यायु, वज्रऋषभनाराच संहनन इन छह प्रकृतियों को कम कर और देवगति आदि चार, देवायु इन पांच को मिलाने से ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। परन्तु देवों में स्त्रीवेद का उदय और देवांगनाओं में पुरुषवेद का उदय नहीं होता है। अतः देवों और देवांगनाओं में ७६ प्रकृतियाँ ही उदययोग्य समझना चाहिए।

> अविरदठाणं एक्कं अणुद्दिसादिसु सुरोघमेव हवे।
> भवणतिकप्पित्थीणं असंजदे णत्थि देवाणू ॥३०५॥

अनुदिश आदि विमानों में एक असंयत गुणस्थान ही है। अतः देवों के अविरत गुणस्थान की तरह उदययोग्य ७० प्रकृतियाँ जानना। भवनत्रिक (भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी) देव, देवियों तथा कल्पवासिनी स्त्रियों के सामान्य देवों की तरह ७७ प्रकृतियों में स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद के बिना ७६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं, किन्तु चौथे अविरत गुणस्थान में देवानुपूर्वी का उदय नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरण करके भवनत्रिक में उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् भवनत्रिक व कल्पवासिनी देवियों के चतुर्थ गुणस्थान में व तीसरे में भी उदययोग्य ६९ प्रकृतियाँ ही हैं।

इन्द्रियमार्गणा

> तिरियअपुण्णं वेगे परघादचउक्कपुण्णसाहरणं।
> एइन्दियजसथीणतियावरजुगलं च मिलिदव्वं ॥३०६॥

रिणमंगोवंगतसं संहविपंचक्खमेवमिह वियले।
अवणिय थावरजुगलं साहरणयक्खमादावं ॥३०७॥
खिव तसदुमादिदुस्सरमंगोवंगं सजादिसेवट्टं।
ओघं सयले साहरणिगिविगलादावथावरदुगूणं ॥३०८॥

एकेन्द्रिय मार्गणा में तिर्यंच लब्धि-अपर्याप्त की ७१ प्रकृतियों में पराघात आदि चार, पर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय जाति, यशःकीर्ति, स्त्यानर्द्धित्रिक, स्थावर और सूक्ष्म कुल तेरह प्रकृतियाँ मिलाकर और अंगोपांग, त्रस, सेवार्त संहनन, पंचेन्द्रिय इन चार को कम करने से ८० प्रकृतियाँ उदययोग्य जानना। विकलत्रय में एकेन्द्रिय के समान ८० प्रकृतियों में से स्थावर युगल, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप इन पांच प्रकृतियों को कम करके तथा त्रस, अप्रशस्तविहायोगति, दुःस्वर, अंगोपांग, अपनी-अपनी जाति, सेवार्त संहनन, इन छह प्रकृतियों को मिलाने से उदययोग्य ८१ प्रकृतियाँ हैं। पंचेन्द्रिय में गुणस्थान की तरह १२२ में से साधारण, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, आतप, स्थावरयुगल — इन आठ प्रकृतियों को कम करने पर ११४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

काय व योगमार्गणा

एयं वा पणकाये ण हि साहरणमिणं च आदावं।
दुसु तद्दुगमुज्जोवं कमेण चरिमम्हि आदावं ॥३०९॥

पृथ्वीकाय आदि पांचों कायों में एकेन्द्रिय की तरह ८० प्रकृतियों में से एक साधारण प्रकृति को कम करने पर पृथ्वीकाय में ७९ और साधारण व आतप प्रकृति को घटाने पर जलकाय में उदययोग्य ७८ तथा तेजस्काय, वायुकाय, इन दोनों में साधारण, आतप, उद्योत — इन तीन प्रकृतियों को घटाने पर ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। वनस्पतिकाय में सिर्फ आतप प्रकृति को कम करने पर ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

ओघं तसे ण थावरदुगसाहरणेयतावमथ ओघं।
मणवयणसत्तगे ण हि ताविगिविगलं च थावराणुचओ ॥३१०॥

त्रसकाय में गुणस्थान सामान्य की १२२ प्रकृतियों में से स्थावर आदि

दो, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप—ये पाँच प्रकृतियाँ न होने से ११७ प्रकृतियाँ उदय होने योग्य हैं।

चार मनोयोग तथा तीन वचनयोग कुल सात योगों में आतप, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, स्थावर आदि चार, चार आनुपूर्वी—ये १३ प्रकृतियाँ नहीं होती हैं, अतः १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

अणुभयवचि वियलजुदा ओघमुराले ण हार देवाऊ।
वेगुव्वछक्कणरतिरियाणु अपज्जत्तणिरयाऊ ॥३११॥

अनुभय वचनयोग में १०९ प्रकृतियों में विकलत्रय मिलाकर ११२ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

औदारिक काययोग में ११२ में से आहारक शरीर युगल, देवायु, वैक्रिय-षट्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, अपर्याप्त, नरकायु—इन १३ प्रकृतियों के न होने से १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य है।

तम्मिस्से पुण्णजुदा ण मिस्सथीणतियसरविहायदुगं।
परघादचओ अयदे णादेज्जदुदुब्भगं ण संढित्थी ॥३१२॥
साणे तेसिं छेदो वामे चत्तारि चोद्दसा साणे।
चउदालं वोछेदो अयदे जोगिम्हि छत्तीसं ॥३१३॥

औदारिकमिश्र काययोग में पूर्व की १०९ प्रकृतियों में पर्याप्त के मिलाने तथा मिश्रप्रकृति, स्त्यानर्द्धित्रिक, स्वरद्वय, विहायोगतियुगल, पराघातादि चार-इन बारह प्रकृतियों के न होने से ९८ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। चौथे अविरत गुणस्थान में अनादेय युगल, दुर्भग, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद इनका उदय नहीं है, इन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति सास्वादन गुणस्थान में ही जानना चाहिए। इसके मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, सूक्ष्मत्रय ये चार प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं। सास्वादन में अनन्तानुबन्धी आदि १४, असंयत में अप्रत्याख्यानादि ४४ तथा सयोगिकेवली में ३६ प्रकृतियों का उदय विच्छेद जानना।

देवोघं वेगुव्वे ण सुराणु पक्खिवेज्ज णिरयाऊ।
णिरयगदि हुंडसंढं दुग्गदि दुब्भगचओ णीचं ॥३१४॥

वैक्रिय काययोग में देवगति के समान ७७ प्रकृतियों में से देवानुपूर्वी को कम करने और नरकायु, नरकगति, हुंड संस्थान, नपुंसकवेद, अशुभ विहायोगति, दुर्भग आदि चार, नीच गोत्र— इन दस प्रकृतियों को मिलाने से ८६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

वेगुव्वं वा मिस्से ण मिस्स परघादसरविहायदुगं।
साणे ण हुंडसंढ दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥३१५॥
णिरयगदिआउणीचं ते खिसयदेव्वणिज्ज थीवेदं।
छट्ठगुणं वाहारे ण थीणतियसंढथीवेदं ॥३१६॥
दुगदिदुस्सरसंहदि ओरालदु चरिमपंचसंठाणं।
ते तम्मिस्से सुस्सर परधादद्दुसत्थगदि हीणा ॥३१७॥

वैक्रियमिश्र काययोग में वैक्रिय की ८६ प्रकृतियों में से मिश्रमोहनीय, पराघात—स्वर—विहायोगति—इन तीन का युगल उदयरूप नहीं है, अर्थात् ये सात प्रकृतियाँ उदययोग्य न होने से ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। इनमें भी सास्वादन गुणस्थान में हुंड संस्थान, नपुंसकवेद, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति नरकगति, नरकायु, नीचगोत्र का उदय नहीं है, क्योंकि सास्वादन गुणस्थान वाला मरकर नरक को नहीं जाता, किन्तु अविरत गुणस्थान में इनका उदय रहता है। सास्वादन में स्त्रीवेद और अनन्तानुबन्धीचतुष्क इन पाँच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है। अविरति में अप्रत्याख्यानकषायचतुष्क, वैक्रियद्विक, देवगति, नरकगति, देवायु, नरकायु और दुर्भगत्रिक इन तेरह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है। आहारक काययोग में छठे गुणस्थान की ८१ प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धि-त्रिक, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अप्रशस्तविहायोगति, दुःस्वर, छह संहनन, औदारिक-द्विक, अंत के पाँच संस्थान इन २० प्रकृतियों का उदय नहीं है। आहारकमिश्र काययोग में इन ६१ प्रकृतियों में से सुस्वर, पराघातादि दो, प्रशस्तविहायोगति इन चार को कम करने से ५७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

ओघं कम्मे सरगदिपत्तेयाहारुरालदुग मिस्सं।
उवघादपणविगुव्वदुथीणतिसंठाणसंहदी णत्थि ॥३१८॥

साणे थीवेदछिदी णिरयदुणिरयाउगं ण तियदसयं ।
इगिवण्णं पणवीसं मिच्छादिसु चउसु वोच्छेदो ॥३१९॥

कार्मण काययोग में १२२ प्रकृतियों में से स्वर-विहायोगति—प्रत्येक—आहारकशरीर—औदारिकशरीर—इन सबका युगल, मिश्रमोहनीय, उपघात आदि पांच, वैक्रियद्विक, स्त्यानद्धित्रिक, छह संस्थान, छह संहनन, इन प्रकृतियों के न होने से ८९ प्रकृतियां उदययोग्य हैं। उसमें भी सास्वादन गुणस्थान में स्त्रीवेद की व्युच्छित्ति होती है और नरकगतिद्विक, नरकायु—इन तीन का उदय नहीं होता है तथा मिथ्यात्वादि (मिथ्यात्व, सास्वादन, अविरत, सयोगिकेवली) चार गुणस्थानों में क्रम से ३, १०, ५१, २५, प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है।

वेदमार्गणा

मूलोघं पुंवेदे थावरचउणिरयजुगलतित्थयरं ॥
इगिविगलं थीसंढं तावं णिरयाउगं णत्थि ॥३२०॥
इत्थिवेदेवि तहा हारदुपुरिसूणमित्थिसंजुत्तं ।
ओघं संढे ण हि सुरहारदुथीपुंसुराउतित्थयरं ॥३२१॥

पुरुषवेद में मूलवत् १२२ प्रकृतियों में से स्थावर आदि चार, नरकगतिद्विक, तीर्थङ्कर, एकेन्द्रिय, विकलत्रिक, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, आतप, नरकायु—इन १५ प्रकृतियों के न होने से १०७ प्रकृतियां उदययोग्य हैं।

स्त्रीवेद में उक्त १०७ प्रकृतियों में से आहारकशरीर युगल, पुरुषवेद इन तीन प्रकृतियों को कम करके और स्त्रीवेद को मिलाने से १०५ प्रकृतियां उदययोग्य हैं। नपुंसकवेद में १२२ प्रकृतियों में से देवगतियुगल, आहारकद्विक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, देवायु, तीर्थङ्कर—इन आठ प्रकृतियों के कम होने से ११४ प्रकृतियां उदययोग्य हैं।

कषाय, ज्ञान, संयम व दर्शन मार्गणा

तित्थयरमाणमायालोहचउक्कूणमोघमिह कोहे ।
अणरहिदे णिगिविगलं तावऽणकोहाणथावरचउक्क ॥३२२॥

एवं माणादितिए मदिसुद अण्णाणगे दु सगुणोघं ।
वेभंगेवि ण ताविगिविगलिंदी थावराणुचऊ ॥३२३॥
सण्णाणपंचयादी दंसणमग्गणपदोत्ति सगुणोघं ।
मणपज्जव परिहारे णवरि ण संढित्थि हारदुगं ॥३२४॥
चक्खुम्मि ण साहारणताविगिबितिजाइ थावरं सुहुमं ।

क्रोध कषाय मार्गणा में सामान्य १२२ प्रकृतियों में से तीर्थंङ्कर तथा मान, माया, लोभचतुष्क सम्बन्धी १२ कषायों —इन १३ प्रकृतियों को कम करने से १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं तथा अनन्तानुबन्धीरहित क्रोध में एकेन्द्रिय, विकलत्रिक, आतप, अनन्तानुबन्धी क्रोध, चार आनुपूर्वी, स्थावर आदि चार, इस प्रकार १०९ में से १४ प्रकृतियाँ तथा अनन्तानुबन्धी मान आदि तीन व मिथ्यात्व ये चार कुल १८ प्रकृतियों को छोड़कर उदययोग्य ९१ प्रकृतियाँ हैं।

इसी प्रकार मान आदि तीन कषायों में भी अपने से अन्य १२ कषाय तथा तीर्थंङ्कर प्रकृति इन १३ प्रकृतियों के न होने से १०९ प्रकृतियां उदययोग्य समझना।

ज्ञान मार्गणा में कुमति और कुश्रुत ज्ञान में सामान्य गुणस्थानवत् १२२ में से आहारक आदि ५ के सिवाय ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। विभंग (कुअवधि) ज्ञान में भी उक्त ११७ प्रकृतियों में से आतप, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय त्रय, स्थावर आदि चार, आनुपूर्वी चार, कुल मिलाकर १३ प्रकृतियाँ उदय न होने के कारण १०४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

पाँच सम्यग्ज्ञान से लेकर दर्शन मार्गणास्थान पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थान सरीखी उदययोग्य प्रकृतियाँ हैं, लेकिन मनःपर्यायज्ञान के विषय में यह विशेष जानने योग्य है कि नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, आहारक युगल ये चार प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं हैं।

दर्शन मार्गणा के चक्षुदर्शन में १२२ में से साधारण, आतप, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, तीर्थंङ्कर —इन आठ प्रकृतियों का उदय न होने के कारण ११४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

लेश्या मार्गणा

किण्हदुगे सगुणोघं मिच्छे णिरयाणु वोच्छेदो ॥३२५॥
साणे सुराउसुरगदिदेवतिरिक्खाणु वोच्छिदी एवं ।
काओदे अयदगुणे णिरयतिरिक्खाणुवोच्छेदो ॥३२६॥
तेउतिये सगुणोघं णादाविगिविगलथावरचउक्कं ।
णिरयदुतदाउतिरियाणुगं णराणु ण मिच्छदुगे ॥३२७॥

लेश्या मार्गणा में कृष्ण, नील—इन दो लेश्याओं में अपने-अपने गुणस्थानवत् तीर्थंकरादि तीन प्रकृतियों के सिवाय ११९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। लेकिन मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नरकानुपूर्वी भी व्युच्छिन्न समझना। सासादन गुणस्थान में देवायु, देवगति, देवानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी—इन चार की व्युच्छित्ति होती है। इसी प्रकार कापोत लेश्या में भी, किन्तु अविरत गुणस्थान में नरकानुपूर्वी व तिर्यंचानुपूर्वी इन दो प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है।

तेजोलेश्या आदि तीन शुभ लेश्याओं में अपने-अपने गुणस्थानवत् १२२ में से आतप, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक, स्थावर आदि चार, नरकगतिद्विक, नरकायु, तिर्यंचानुपूर्वी—इन १३ प्रकृतियों का उदय न होने से १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उसमें भी मिथ्यादृष्टि आदि दो गुणस्थानों में मनुष्यानुपूर्वी का भी उदय नहीं है।

भव्य, सम्यक्त्व व संज्ञी मार्गणा

खाइयसम्मो देसो णर एव जदो तहिं ण तिरियाऊ ।
उज्जोवं तिरियगदी तेसिं अयदम्हि वोच्छेदो ॥३२८॥

भव्य, अभव्य, उपशमसम्यक्त्व, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और क्षायिकसम्यक्त्व मार्गणाओं में अपने-अपने गुणस्थान के कथन की तरह जानना। किन्तु विशेष यह जानना कि उपशमसम्यक्त्व तथा क्षायिकसम्यक्त्व में सम्यक्त्व-मोहनीय उदययोग्य नहीं है तथा उपशमसम्यक्त्व में आदि की नरकानुपूर्वी आदि तीन आनुपूर्वी और आहारकद्विक ये प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं हैं।

भवियदरुवसमवेदगखइये सगुणोघमुवसमे खयिये ।
ण हि सम्ममुवसमे पुण णादितियाणू य हारदुगं ॥३२९॥

देशसंयत नामक पाँचवें गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही होता है, इसलिए तिर्यंचायु, उद्योत, तिर्यंचगति इन तीन प्रकृतियों का उदय नहीं है, अतः इन तीन की उदयव्युच्छित्ति अविरत गुणस्थान में ही आती है ।

> सेसाणं सगुणोघं सण्णिस्सवि णत्थि तावसाहरणं ।
> थावरसुहुमिगिविगलं असण्णिणोवि य ण मणुदुच्चं ॥३३०॥
> वेगुव्वछ पणसंहदिसंठाणं सुगमण सुभगआउतियं ।

शेष मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र सम्यक्त्व, इन तीनों में अपने-अपने गुणस्थान की तरह उदयादि जानना । अर्थात् मिथ्यात्व में ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं इत्यादि ।

संज्ञी मार्गणा में संज्ञी के भी सामान्य १२२ में से आतप, साधारण, स्थावर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक और पूर्वोक्त तीर्थङ्कर प्रकृति कुल ६ प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं हैं । असंज्ञी के मनुष्यगतिद्विक, उच्च गोत्र, वैक्रिय शरीर आदि षट्क, आदि के पाँच संहनन, आदि के पाँच संस्थान, प्रशस्त विहायोगति, सुभगादि तीन, नरकादि तीन आयु—ये २६ प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं हैं । अतः मिथ्यादृष्टि की ११७ में से २६ प्रकृतियाँ घटाने पर ९१ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं ।

आहारमार्गणा

> आहारे सगुणोघं णवरि ण सव्वाणुपुव्वीओ ॥३३१॥
> कम्मे व अणाहारे, पयडीणं उदयमेवमादेसे॰॰॰ ॥३३२॥

आहारमार्गणा में आहारक अवस्था में सामान्य गुणस्थानवत् उदयादि समझना, परन्तु चारों आनुपूर्वी प्रकृतियों का उदय नहीं होता है । अतः उदययोग्य ११८ प्रकृतियाँ हैं ।

अनाहारक अवस्था में कार्मण काययोग की तरह ८९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं ।

सत्तास्वामित्व

गति आदि मार्गणाओं में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार

भेदों को लिये हुए प्रकृतियों के सत्त्व का यथायोग्य क्रम से कथन किया जा रहा है। सत्त्व को बतलाने के लिए सर्वप्रथम परिभाषा सूत्र कहते हैं—

तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि ॥३३३॥

मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में क्रम से पहले में तीर्थंकर और आहारकद्विक एक काल में नहीं होते, तथा दूसरे में तीनों ही किसी काल में नहीं होते और मिश्र में तीर्थंकर प्रकृति नहीं होती। अर्थात् मिथ्यात्व में नाना जीवों की अपेक्षा १४८ प्रकृतियों की सत्ता है, सासादन में तीनों ही के किसी काल में न होने से १४५ की सत्ता है और मिश्र गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति के न होने से १४७ प्रकृतियों की सत्ता है। क्योंकि इन सत्त्व प्रकृतियों वाले जीवों के ये मिथ्यात्वादि गुणस्थान ही संभव नहीं हैं।

चत्तारिवि खेत्ताइं आउगबन्धेण होइ सम्मत्तं।
अणुवद महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥३३४॥

चारों ही गतियों में किसी भी आयु का बन्ध होने पर सम्यक्त्व होता है, परन्तु देवायु के बन्ध के सिवाय अन्य तीन आयु के बन्ध वाला अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ व्रत के कारणभूत विशुद्ध परिणाम नहीं हैं।

णिरयतिरिक्खसुराउग सत्ते ण हि देससयलवदखवगा।
अयदचउक्कं तु अण अणियट्टीकरण चरिमम्हि ॥३३५॥
जुगवं संजोगित्ता पुणोवि अणियट्टिकरण बहुभागं।
वोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवेदि कमे ॥३३६॥

नरक, तिर्यंच तथा देवायु के सत्त्व होने पर क्रम से देशव्रत, सर्वव्रत (महाव्रत) और क्षपक श्रेणी नहीं होती और असंयतादि चार गुणस्थान वाले अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृतियों का क्रम से क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। उन सातों में से पहले अनन्तानुबन्धीचतुष्क का अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों के अंतर्मुहूर्त काल के अन्त समय में एक ही बार विसंयोजन अर्थात्

अनन्तानुबन्धीचतुष्क को अप्रत्याख्यानादि बारह कषाय रूप परिणमन करा देता है तथा अनिवृत्तिकरण काल के बहुभाग को छोड़कर शेष संख्यातवें एक भाग में पहले समय से लेकर क्रम से मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करते हैं। इस प्रकार सात प्रकृतियों के क्षय का क्रम है। यहाँ पर तीन गुणस्थानों का प्रकृतिसत्त्व पूर्वोक्त ही समझना तथा असंयत से लेकर सातवें गुणस्थान तक उपशमसम्यग्दृष्टि तथा क्षयोपशमसम्यग्दृष्टि इन दोनों के चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी आदि की उपशमरूप सत्ता होने से १४८ प्रकृतियों का सत्त्व है। पाँचवें गुणस्थान में नरकायु न होने से १४७ का, प्रमत्त गुणस्थान में नरक तथा तिर्यंचायु इन दोनों का सत्त्व न होने से १४६ तथा अप्रमत्त में भी १४६ का सत्त्व है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय होने से सात-सात कम समझना। अपूर्वकरण गुणस्थान में दो श्रेणी हैं, उनमें से क्षपक श्रेणी में तो १३८ प्रकृतियों का सत्त्व है क्योंकि अनन्तानुबन्धी आदि ७ प्रकृतियों का तो पहले ही क्षय किया था और नरक, तिर्यंच तथा देवायु इन तीनों की सत्ता ही नहीं है।

सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदु सेक्कं बादरे अदो एक्कं।
खीणे सोलसऽजोगे बायत्तरि तेरुवत्तंते ॥३३७॥

अनिवृत्तिकरण में क्रम से १६, ८, १, १, ६ प्रकृतियाँ सत्ता से व्युच्छिन्न होती हैं तथा अंतिम भाग में एक की ही सत्ताव्युच्छिन्न होती है। दसवें गुणस्थान में एक की ही व्युच्छित्ति है। ग्यारहवें में योग्यता ही नहीं है। बारहवें के अन्तसमय में १६ प्रकृतियों की सत्त्वव्युच्छित्ति होती है। सयोगिकेवली में किसी भी प्रकृति की व्युच्छित्ति नहीं है। अयोगि गुणस्थान के अंत के दो समयों में से पहले समय में ७२ की तथा दूसरे समय में १३ प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं।

गुणस्थानों में सत्त्व और असत्त्व प्रकृतियों की संख्या का क्रम इस प्रकार से है—

णभतिगिणभइगि दोद्दो दस दस सोलट्ठगादिहीणेसु।
सत्ता हवंति एवं असहाय परक्कमुद्दिट्ठं ॥३४२॥

मिथ्यादृष्टि आदि अपूर्वकरण गुणस्थान तक क्रम से शून्य (०), ३, १, शून्य (०), १, २, २, १० इतनी प्रकृतियों का असत्त्व जानना अर्थात् ये प्रकृतियाँ नहीं रहती हैं और अनिवृत्तिकरण के पहले भाग में १०, दूसरे में १६, तीसरे आदि भाग में ८ आदि प्रकृतियाँ असत्त्व जानना और इन असत्त्व प्रकृतियों को सब सत्त्व प्रकृतियों में घटाने से अवशेष प्रकृतियाँ अपने-अपने गुणस्थानों में सत्त्व प्रकृतियाँ हैं। (ऐसा सहायता रहित पराक्रम के धारक श्री महावीर स्वामी ने कहा है।)

उपशम के विधान में भी क्षपणा के विधान की तरह क्रम जानना चाहिए, किन्तु यह विशेष है कि संज्वलनकषाय और पुरुषवेद के मध्य में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय सम्बन्धी दो-दो क्रोधादि हैं, सो पहले उनको क्रम से उपशमन करता है, पीछे संज्वलन क्रोधादि का उपशम करता है। अर्थात् क्षपक श्रेणी की तरह उपशम श्रेणी में नौवें गुणस्थान के दूसरे भाग में मध्यम आठ कषायों का उपशम नहीं होता है किन्तु पुरुषवेद के बाद और संज्वलन के पहले होता है और उसका क्रम ऐसा है कि पुरुषवेद के बाद अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान दोनों के क्रोध का उपशम तत्पश्चात् संज्वलन क्रोध का उपशम इत्यादि। मान आदि में भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिए।

तिरिए ण तित्थसत्तं णिरयादिसु तिय चउक्क चउ तिण्णि।
आऊणि होंति सत्ता सेसं ओघादु जाणेज्जो ॥३४४॥

तिर्यंचगति में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं है तथा नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति में क्रम से भुज्यमान नरकायु और बध्यमान तिर्यंच व मनुष्यायु—इन तीन आयुओं की; भुज्यमान तिर्यंचायु और बध्यमान—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवायु इन चार की; भुज्यमान मनुष्यायु और बध्यमान नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवायु इन चार की; भुज्यमान देवायु और बध्यमान तिर्यंच व मनुष्यायु इन तीन आयु कर्मों की सत्ता रहने योग्य है तथा शेष प्रकृतियों की सत्ता गुणस्थान की तरह समझना चाहिए।

गतिमार्गणा

ओघं वा णेरइये ण सुराऊ तित्थमत्थि तदियो त्ति।
छट्ठित्ति मणुस्साऊ तिरिए ओघं ण तित्थयरं ॥३४६॥

नरकगति में गुणस्थानवत् सत्ता जानना, किन्तु देवायु की सत्ता न होने से १४७ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य हैं। तीसरे नरक तक तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता है तथा मनुष्यायु की सत्ता छठे नरक तक है। तिर्यंच गति में भी सत्ता गुणस्थानवत् समझना लेकिन तीर्थंकर प्रकृति का सत्त्व नहीं है, इसलिए सत्त्वयोग्य १४७ प्रकृतियाँ हैं।

> एवं पंचतिरिक्खे पुण्णिदरे णत्थि णिरयदेवाऊ।
> ओघं मणुसतियेसु वि अपुण्णगे पुण अपुण्णेव ॥३४७॥

इसी प्रकार पाँच जाति के तिर्यंचों में भी सामान्य रीति से सत्त्व जानना, लेकिन विशेष यह है कि लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच में नरकायु, देवायु—इन दो की सत्ता नहीं है। मनुष्य के तीन भेदों में भी गुणस्थानवत् सत्त्व समझना, परन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य में लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच की तरह नरकायु, देवायु और तीर्थंकर इन तीन प्रकृतियों के बिना १४५ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य हैं।

> ओघं देवे ण हि णिरयाऊ सारोत्ति होदि तिरियाऊ।
> भवणतियकप्पवासियइत्थीसु ण तित्थयरसत्तं ॥३४८॥

देवगति में सामान्यवत् जानना, किन्तु नरकायु न होने से १४७ प्रकृतियों की सत्ता है। सहस्रार स्वर्ग तक तिर्यंचायु की सत्ता है। भवनत्रिक देवों व कल्पवासिनी स्त्रियों में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं है।

इन्द्रिय व कायमार्गणा

> ओघं पंचक्खतसे सेसिंदियकायगे अपुण्णं वा।
> तेउदुगे ण णराऊ सव्वत्थुव्वेल्लणावि हवे ॥३४९॥

पंचेन्द्रिय व त्रसकाय में सामान्य गुणस्थान की तरह प्रकृतियों की सत्ता है। शेष एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय तक तथा पृथ्वी आदि स्थावरकाय में लब्ध्यपर्याप्तक की तरह १४५ प्रकृतियों की सत्ता जानना। परन्तु तेजस्काय और वायुकाय में मनुष्यायु का सत्त्व न होने से इन दोनों में १४४ की सत्ता

समझना। इन्द्रिय और काय मार्गणा में प्रकृतियों की उद्वेलना[1] भी होती है।

योगमार्गणा

पुण्णेकारसजोगे साहारयमिस्सगेवि सगुणोघं।
वेगुव्वियमिस्सेवि य णवरि ण माणुसतिरिक्खाऊ ॥३५२॥

मनोयोग आदि ११ पूर्ण योगों में और आहारकमिश्र योग में अपने-अपने गुणस्थानों की तरह सत्त्व प्रकृतियाँ जानना। वैक्रियमिश्र योग में भी गुणस्थानवत् ही सत्ता जानना, किन्तु यह विशेषता है कि यहाँ पर मनुष्यायु और तिर्यंचायु—इन दो की सत्ता नहीं है, अतः १४६ सत्तायोग्य प्रकृतियाँ हैं।

ओरालमिस्स जोगे ओघं सुरणिरयआउगं णत्थि।
तम्मिस्सवामगे ण हि तित्थं कम्मेवि सगुणोघं ॥३५३॥

औदारिकमिश्र योग में सामान्य गुणस्थानवत् सत्ता है, किन्तु देवायु और नरकायु दो प्रकृतियाँ न होने से १४३ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य हैं। औदारिकमिश्र मिथ्यादृष्टि के तीर्थंकर प्रकृति नहीं है, अतः पहले गुणस्थान में १४५ का सत्त्व है। कार्मणकाययोग में गुणस्थानवत् १४८ प्रकृतियों की सत्ता समझना चाहिए।

वेद से आहार मार्गणा पर्यन्त

वेदादाहारोत्ति य सगुणोघं णवरि संढथीखवगे।
किण्हदुगसुहतिलेस्सियवामेवि ण तित्थयरसत्तं ॥३५४॥
अभव्वसिद्धे णत्थि हु सत्तं तित्थयरसम्ममिस्साणं।
आहारचउक्कस्सवि असण्णिजीवे ण तित्थयरं ॥३५५॥
कम्मेवाणाहारे पयडीणं सत्तमेवमादेसे।

---

१ जिस प्रकृति का बन्ध किया था उसका परिणामविशेष से अन्य प्रकृति रूप परिणमन करके नाश कर देना अर्थात् फल उदय में नहीं आने दिया, पहले नाश कर दिया, उसे उद्वेलन कहते हैं। उद्वेलनयोग्य प्रकृतियाँ १३ हैं—आहारकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगतिद्विक, नरकगति आदि चार, उच्च गोत्र, मनुष्यगतिद्विक।

वेद मार्गणा से लेकर आहारक मार्गणा पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थानवत् सामान्य सत्त्व समझना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि नपुंसकवेद और स्त्रीवेद क्षपक श्रेणी वाले के तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण व नील इन दो लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि के और पीतादि तीन शुभ लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि के भी तीर्थङ्कर प्रकृति का सत्त्व नहीं है।

अभव्य जीवों के तीर्थंकर, सम्यक्त्व, मिश्रमोहनीय तथा आहारकचतुष्क (आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक बन्धन, आहारक संघात) इन सात प्रकृतियों का सत्त्व नहीं है। असंज्ञी जीव के तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नहीं है।

अनाहारक मार्गणा में कार्मण काययोगवत् प्रकृतियों का सत्व समझना चाहिए।

□□

श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के समान-असमान मन्तव्य

श्वेताम्बर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के बन्धस्वामित्व सम्बन्धी समान-असमान मन्तव्य यहाँ उपस्थित करते हैं—

(१) तीसरे गुणस्थान में आयुबन्ध नहीं होने के बारे में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर कर्मसाहित्य में समानता है। श्वेताम्बर कर्मसाहित्य में तीसरे मिश्र गुणस्थान में आयुकर्म का बन्ध नहीं माना गया है। यही मन्तव्य दिगम्बर कर्म-साहित्य का भी है।

(२) पृथ्वीकाय आदि मार्गणाओं में दूसरे गुणस्थान में ६६ और ६४ प्रकृतियों का बन्ध मतभेद से कर्मग्रन्थ में है लेकिन गोम्मटसार कर्मकाण्ड में केवल ६४ प्रकृतियों का बन्ध माना गया है।

(३) एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार इन्द्रिय मार्गणाओं तथा पृथ्वी, जल और वनस्पति—इन तीन काय-मार्गणाओं में पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान कर्मग्रन्थ में माने हैं। गो० कर्मकाण्ड में भी इसी पक्ष को स्वीकार किया है। लेकिन सर्वार्थसिद्धिकार का इस विषय में भिन्न मत है। वे एकेन्द्रिय आदि चार इन्द्रिय मार्गणाओं एवं पृथ्वीकाय आदि तीन काय मार्गणाओं में पहला ही गुणस्थान मानते हैं।

(४) एकेन्द्रियों में गुणस्थान मानने के सम्बन्ध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में दो पक्ष हैं। सैद्धान्तिक पक्ष सिर्फ पहला गुणस्थान और कर्मग्रन्थ पक्ष पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान मानता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में भी यही दो पक्ष देखने में आते हैं। सर्वार्थसिद्धि और गो० जीवकाण्ड में सैद्धान्तिक पक्ष तथा गो० कर्मकाण्ड में कर्मग्रान्थिक पक्ष है।

(५) औदारिकमिश्रकाययोग मार्गणा में मिथ्यात्व गुणस्थान में १०६ प्रकृतियों का बन्ध कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाण्ड में भी माना गया है।

(६) औदारिकमिश्रकाययोग मार्गणा में अविरतसम्यग्दृष्टि को ७०

प्रकृतियों के बन्ध विषयक टबे के मत की पुष्टि गो० कर्मकाण्ड से भी होती है।

(७) कर्मग्रन्थ में आहारकमिश्र काययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध माना है, किन्तु गो० कर्मकाण्ड में ६२ प्रकृतियों का बन्ध माना गया है।

(८) कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में कर्मग्रन्थ और गो० कर्मकाण्ड ने ७७ प्रकृतियों और सैद्धान्तिक पक्ष ने ७५ प्रकृतियों का बन्ध माना है।

कर्मग्रन्थ व गो० कर्मकाण्ड में शुक्ललेश्या का बन्धस्वामित्व समान है।

तीसरे कर्मग्रन्थ में कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ पहले चार गुणस्थानों में मानी हैं। इसी प्रकार का गोम्मटसार और सर्वार्थसिद्धि का भी मत है।

(९) श्वेताम्बर सम्प्रदाय में १२ देवलोक माने हैं (तत्वार्थ० अ० ४, सू० २० का भाष्य) परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में १६ (तत्वार्थ० अ० ४, सू० १८ की सर्वार्थसिद्धि टीका)। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सनत्कुमार से सहस्रार पर्यन्त छह देवलोक हैं, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार १०। इनमें से ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार देवलोक हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नहीं माने हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तीसरे सनत्कुमार से लेकर पाँचवें ब्रह्मलोक पर्यन्त केवल पद्मलेश्या तथा छठे लान्तक से लेकर ऊपर के सब देवलोकों में शुक्ल लेश्या मानी है, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में सनत्कुमार, माहेन्द्र दो देवलोकों में तेजोलेश्या व पद्मलेश्या; ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ—इन चार देवलोकों में पद्मलेश्या; शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार—इन चार देवलोकों में पद्म व शुक्ल लेश्या तथा आनत आदि शेष सब देवलोकों में केवल शुक्ल-लेश्या मानी है।

(१०) श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में तेजस्-वायुकायिक जीव स्थावर नामकर्म के उदय के कारण स्थावर माने गये हैं, तथापि श्वेताम्बर साहित्य में अपेक्षाविशेष के उनको त्रस भी कहा है। तत्वार्थभाष्य टीका आदि में तेजःकायिक, वायुकायिक को 'गतित्रस' और आचारांगनिर्युक्ति और उसकी टीका में—'लब्धि त्रस' कहा है, लेकिन इन दोनों शब्दों के तात्पर्य में

कोई अन्तर नहीं है। दोनों का आशय यह है कि तेजस् व वायुकायिक में द्वीन्द्रिय आदि की तरह त्रसनाम कर्मोदय नहीं है, लेकिन गमन क्रिया रूप शक्ति होने से त्रसत्व माना है। द्वीन्द्रियादि में त्रसनाम कर्मोदय व गमन क्रिया रूप दोनों प्रकार का त्रसत्व है।

लेकिन दिगम्बर साहित्य में तेजःकायिक, वायुकायिक जीवों को स्थावर ही कहा है, अपेक्षाविशेष से उनको त्रस नहीं कहा है।

(११) पंचसंग्रह (श्री चन्द्रर्षि महत्तर रचित) में औदारिकमिश्र काययोग में कर्मग्रन्थ के समान तिर्यंचायु और मनुष्यायु के बन्ध को माना है।

(१२) कर्मग्रन्थ में आहारक काययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध कहा है। लेकिन इस विषय में पंचसंग्रहकार का मत भिन्न है। वे आहारक काययोग में ५७ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं।

आशा है उक्त मतभिन्नताएँ जिज्ञासुओं को तलस्पर्शी अध्ययन में सहायक बनेंगी।

□□

मार्गणाओं में बंध-स्वामित्व प्रदर्शक यंत्र

ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों की बंधयोग्य प्रकृतियां १२० हैं।

मार्गणाओं में ओघ (सामान्य) और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्ध-स्वामित्व का वर्णन किया गया है कि सामान्य से किस मार्गणा में कितनी प्रकृतियां और गुणस्थान की अपेक्षा कितनी प्रकृतियां बंधयोग्य हैं।

मार्गणाओं में बन्ध-विच्छेद बतलाने के लिये निम्नलिखित ५५ प्रकृतियों का अधिक उपयोग हुआ है। उनके नाम क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

१ तीर्थंकरनामकर्म,
२ देवगति,
३ देव आनुपूर्वी,
४ वैक्रिय शरीर,
५ वैक्रिय अंगोपांग,
६ आहारक शरीर,
७ आहारक अंगोपांग,
८ देवायु,
९ नरकगति,
१० नरक-आनुपूर्वी,
११ नरक-आयु,
१२ सूक्ष्म,
१३ अपर्याप्त,
१४ साधारण,
१५ द्वीन्द्रिय,
१६ त्रीन्द्रिय,
१७ चतुरिन्द्रिय,
१८ एकेन्द्रिय,
१९ स्थावर नामकर्म,
२० आतप नामकर्म,
२१ नपुंसकवेद,
२२ मिथ्यात्व,
२३ हुंड संस्थान,
२४ सेवार्त संहनन,
२५ अनन्तानुबन्धी क्रोध,
२६ अनन्तानुबन्धी मान,
२७ अनन्तानुबन्धी माया,
२८ अनन्तानुबन्धी लोभ,
२९ न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान,
३० सादि संस्थान,
३१ वामन संस्थान,
३२ कुब्ज संस्थान,
३३ ऋषभनाराच संहनन,
३४ नाराचसंहनन,

३५ अर्धनाराच संहनन
३६ कीलिका संहनन
३७ अशुभविहायोगति,
३८ नीचगोत्र,
३६ स्त्रीवेद,
४० दुर्भग,
४१ दुःस्वर,
४२ अनादेय,
४३ निद्रा-निद्रा,
४४ प्रचला-प्रचला,
४५ स्त्यानर्द्धि,
४६ उद्योत,
४७ तिर्यंचगति,
४८ तिर्यंचानुपूर्वी,
४६ तिर्यंचायु,
५० मनुष्य-आयु,
५१ मनुष्यगति,
५२ मनुष्यानुपूर्वी,
५३ औदारिक शरीर,
५४ औदारिक अंगोपांग,
५५ वज्रऋषभनाराच संहनन।

अगले यन्त्रों में बन्ध-विच्छेद बतलाने के लिए प्रारम्भिक प्रकृति से अन्तिम प्रकृति का नामोल्लेख किया जायेगा। जिसका अर्थ यह है कि उस नाम वाली प्रकृति के नाम सहित अंतिम प्रकृति के नाम तक की सभी प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिये। जैसे देवगति से नरकायु तक लिखा होने पर इनमें देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरक-आनुपूर्वी, नरक आयु (२ से ११) तक की सभी प्रकृतियों का ग्रहण होगा।

□

नरकगति तथा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा नरकत्रय का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से लेकर आतप नामकर्म (२०) तक की १९ प्रकृतियों से विहीन = १०१

गु०स्था०	बन्धयोग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१००	१ तीर्थंकर नाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान सेवार्त संहनन = ४
२	९६	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (२५) से लेकर तिर्यंचायु (४९) तक = २५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	तीर्थंकर मनुष्य-आयु	

अबन्ध—जिसका विवक्षित गुणस्थान में बन्ध नहीं होता, लेकिन अन्य गुणस्थान में बन्ध सम्भव है।

पुनःबन्ध—जिसका अन्य गुणस्थान में बन्ध नहीं होता है लेकिन इस गुणस्थान में बंध होता है।

बन्ध-विच्छेद—जिसका बन्ध इस गुणस्थान तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में होता ही नहीं है।

पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा नरकत्रय का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०० प्रकृतियाँ 	गुणस्थान — आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से आतप नामकर्म (२०) तक की २० प्रकृतियों से विहीन — १००

गु० क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१००	×	×	नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन — ४
२	९६	×	×	नरक सामान्यवत् अनन्तानुबंधी क्रोध (२५) से लेकर तिर्यंचायु (४६) तक — २५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७१	×	१ मनुष्यायु	×

महातमःप्रभा नरक का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ९९ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से आतप नामकर्म (२०) तथा मनुष्यायु विहीन =९९

गु०क्र०	बन्धयोग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	९६	३ उच्चगोत्र मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी	×	नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन तिर्यंचायु = ५
२	९१	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से लेकर तिर्यंचानुपूर्वी (४८) तक = २४
३	७०	×	३ उच्चगोत्र मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी	
४	७०	×	×	×

तिर्यंचगति—पर्याप्त तिर्यंच का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ११७ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के पाँच

तीर्थंकर नामकर्म, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग विहीन = ११७

गु० क्र०	बन्धयोग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	११७	×	×	नरकगति (१) से सेवार्त संहनन (२४) तक = १६
२	१०१	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (२५) से वज्रऋषभनाराच संहनन (५५) तक = ३१
३	६९	१ देवायु	×	×
४	७०	×	देवायु	अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ = ४
५	६६	×	×	×

अपर्याप्त, तिर्यंच, अपर्याप्त मनुष्य का बंध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०९ प्रकृतियाँ गुणस्थान—प्रथम (मिथ्यात्व)

तीर्थंकर नामकर्म (१) से नरक-आयु (११) तक की ११ प्रकृतियों से विहीन—१०९

गु० क्र०	बन्धयोग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०९	×	×	×

१ अपर्याप्त का अर्थ यहाँ लब्धि-अपर्याप्त से है, करण-अपर्याप्त से नहीं। लब्धि-अपर्याप्त अर्थ लेने का कारण यह है कि करण-अपर्याप्त मनुष्य तीर्थंकरनामकर्म का बन्ध कर सकता है, लब्धि-अपर्याप्त नहीं। इसीलिये लब्धि-अपर्याप्तता की अपेक्षा तीर्थंकरनामकर्म को सामान्य बन्धयोग्य प्रकृतियों में ग्रहण नहीं किया गया है।

पर्याप्त मनुष्य तथा मन, वचन योग रहित औदारिक काययोग का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ (बंधाधिकार में बताये गये अनुसार)
गुणस्थान—१४

गु०क०	बन्धयोग्य	अबन्ध	पुनःबन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	११७	३ तीर्थंकर नाम आहारकशरीर आहारक अंगोपांग	×	नरकगति (६) से सेवार्त संहनन (२४) तक—१६
२	१०१	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (२५) से वज्रऋषभनाराच संहनन (५५) तक—३१
३	६६	१ देवायु	×	×
४	७१	×	२ तीर्थंकर नाम, देवायु	अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ —४
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान —४
६	६३	×	×	,, ,, ६/७

गु० क्र०	बन्धयोग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
७	५६/५८		२ आहारक शरीर आहारक अंगो- पांग	बन्धाधिकार के समान १
८	५८ ५६ २६	×	×	बन्धाधिकार के समान २/३०/४
९	२२ २१ २० १९ १८	× × × × ×	× × × × ×	,, ,, १ ,, ,, १ ,, ,, १ ,, ,, १ ,, ,, १
१०	१७	×	×	,, ,, १६
११	१	×	×	
१२	१	×	×	
१३	१	×	×	,, ,, १
१४	×	×	×	×

सामान्य देवगति, सौधर्म, ईशान देवलोक, वैक्रिय काययोग का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०४ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से चतुरिन्द्रिय जाति (१७) तक १६ प्रकृतियों से विहीन =१०४

गु०क्र	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०३	१ तीर्थंकरनाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप =७
२	९६	×	×	अनन्ता० क्रोध (२५) से तिर्यंचायु (४९) तक =२५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	२ तीर्थंकरनाम, मनुष्यायु	

सनत्कुमार से सहस्रार पर्यन्त देवलोकों का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से लेकर आतप नामकर्म (२०) तक की १९ प्रकृतियों से विहीन=१०१

गु० स्था०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१००	१ तीर्थंकरनाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन =४
२	९६	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (२५) से लेकर तिर्यंचायु (४९) तक=२५
३	७०	१ मनुष्यायु		×
४	७२	×	२ तीर्थंकरनाम मनुष्यायु	×

आनत से अच्युत पर्यन्त तथा नवग्रैवेयक देवलोकों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ९७ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से आतप नामकर्म (२०) तक की १९ तथा उद्योत, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु ये चार—कुल २३ प्रकृतियों से विहीन = ९७

गु० क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	९६	१ तीर्थंकरनाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्तसंहनन = ४
२	९२	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से स्त्यानर्द्धि (४५) तक = २१
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	२ तीर्थंकरनाम मनुष्यायु	

अनुत्तर से सर्वार्थसिद्धि तक देवलोकों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ७२ प्रकृतियाँ गुणस्थान—एक (अविरत)

गु० क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
४	७२	×	२ तीर्थंकर, मनुष्यायु	×

भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०४ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से चतुरिन्द्रिय जाति (१७) तक १७ प्रकृतियों से विहीन=१०३

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०३	×	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप=७
२	९६		×	अनन्ता० क्रोध (२५) से तिर्यंचायु (४९) तक=२५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७१	×	१ मनुष्यायु	

तेजकाय, वायुकाय (गतित्रस) का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०५ प्रकृतियाँ गुणस्थान—एक (मिथ्यात्व)

तीर्थंकर नामकर्म (१) से नरकायु (११) तक ११ तथा मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, उच्च गोत्र ये चार कुल १५ प्रकृतियों से विहीन=१०५

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०५	×	×	×

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) वचनयोग, काययोग, पृथ्वी, जल तथा वनस्पतिकाय का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०६ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के दो

तीर्थंकर नामकर्म (१) से नरकायु (११) तक की ११ प्रकृतियों से विहीन =१०६

गु० क०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०६	×	×	सूक्ष्म (१२) से लेकर सेवार्त संहनन (२४) तक=१३[1]
२	९६	×	×	

१ किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मन्तव्य है कि दूसरे गुणस्थान में एकेन्द्रिय आदि जीव मनुष्यआयु और तिर्यंचआयु का भी बन्ध नहीं करते हैं अत: ९४ प्रकृतियों का बन्ध दूसरे गुणस्थान में मानना चाहिये। अत: मिथ्यात्व गुणस्थान की विच्छिन्न प्रकृतियों में दो प्रकृतियों को और मिलाने पर १५ प्रकृतियाँ होती हैं। उनको कम करने पर ९४ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य रहती हैं।

गो० कर्मकांड में दूसरे गुणस्थान की बंधयोग्य प्रकृतियाँ ९४ ही मानी हैं।

औदारिकमिश्र काययोग का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ११४ गुणस्थान—१, २, ४, १३ (चार गुणस्थान)

आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु विहीन=११४

गु० क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध विच्छेद
१	१०९	५ तीर्थंकरनाम देवद्विक वैक्रियद्विक	×	सूक्ष्मनाम (१२) से सेवार्त संहनन (२४) तक १३, तथा मनुष्यायु, तिर्यंचायु=१५
२	९४	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से तिर्यंचानुपूर्वी (४८) तक=२४
४	७५		५ तीर्थंकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	
१३	१	×	×	

विशेष—जिज्ञासु ने यहाँ शंका की है कि औदारिक मिश्र काययोग तिर्यंच और मनुष्य को होता है और तिर्यंच व मनुष्यगति के बन्धस्वामित्व में चौथे गुणस्थान में क्रमशः ७० और ७१ प्रकृतियों का बन्ध कहा है और यहाँ औदारिकमिश्र काययोग में ७५ प्रकृतियों का। इन ७५ प्रकृतियों में मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन का समावेश है। इनका तिर्यंचगति और मनुष्यगति के चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों में समावेश नहीं होता है अतः ७५ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व मानना युक्ति-पुरस्सर नहीं है।

गोम्मटसार कर्मकांड में भी चौथे गुणस्थान में ७०, ७१ प्रकृतियाँ बंधयोग्य मानी हैं।

इसका समाधान यह है कि गाथा १५ में आगत 'अणचउवीसाइ' पद का अर्थ सिर्फ अनन्तानुबन्धीचतुष्क आदि चौबीस प्रकृतियाँ न करके 'आइ' शब्द से मनुष्यद्विक आदि पाँच प्रकृतियों को ग्रहण कर लिया जाये तो शंका को कोई स्थान नहीं रहता है। उस स्थिति में ७० और ७१ प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान में बन्धयोग्य माना जा सकता है।

इस प्रकार का समाधान कर लेने पर भी कर्मग्रन्थ में ७५ प्रकृतियों के बन्ध को मानने का कारण क्या है, यह जिज्ञासा बनी रहती है। अतः विचारणीय है।

औदारिकमिश्र काययोग में सिद्धान्त के मतानुसार पाँचवाँ, छठा यह दो गुणस्थान माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जैसे औदारिक काययोग की शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होने के समय तक कार्मणकाययोग के साथ मिश्रता होने से औदारिक काययोग को औदारिक मिश्रकाययोग कहा जाता है, वैसे ही लब्धिजन्य वैक्रिय और आहारक शरीर का इनके प्रारम्भ काल में औदारिक शरीर के साथ मिश्रण होने के समय जब तक वैक्रिय या आहारक शरीर में शरीरपर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक के लिये औदारिक मिश्रकाययोग माना जाना चाहिए।

सिद्धान्त का उक्त दृष्टिकोण ग्राह्य है और उस दृष्टि से औदारिकमिश्र काययोग में पाँचवाँ, छठा गुणस्थान माने जा सकते हैं। लेकिन कर्मग्रन्थों में लब्धिजन्य शरीर की प्रधानता न मानकर वैक्रिय और आहारक शरीर को औदारिकमिश्र काययोग नहीं माना है। सिर्फ कार्मण और औदारिक शरीर दोनों के सहयोग से होने वाले योग को औदारिकमिश्र काययोग कहना चाहिए और यह योग पहले, दूसरे, चौथे तथा तेरहवें गुणस्थान में पाया जाता है।

इसीलिये इन चार गुणस्थानों में बन्धस्वामित्व का कथन किया है।

कार्मण काययोग व अनाहारक का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ११२ गुणस्थान—१, २, ४, १३ (चार गुणस्थान)

आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, मनुष्यायु, तिर्यंचायु कुल ८ प्रकृतियों से विहीन = ११२

गु० क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०७	५ तीर्थंकरनाम देवद्विक वैक्रियद्विक	×	सूक्ष्मनाम (१२) से सेवार्त संहनन (२४) तक = १३
२	९४	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से तिर्यंचानुपूर्वी (४८) तक २४
४	७५		५ तीर्थंकरनाम देवद्विक वैक्रियद्विक	
१३	१	×	×	

विशेष—यद्यपि अनाहारक मार्गणा १, २, ४, १३ और १४ इन पाँच गुणस्थानों में पाई जाती है, और बन्धस्वामित्व कार्मण काययोग के समान १, २, ४ और १३ इन चार गुणस्थानों का बतलाया है तो इसका कारण यह है कि चौदहवें गुणस्थान में कर्मबन्ध के कारणों का सर्वथा अभाव हो जाने से किसी भी कर्म का बन्ध नहीं होता है और शेष गुणस्थानों में मिथ्यात्वादि बन्धकारण अपनी-अपनी भूमिका तक रहते हैं। अत: कार्मण काययोग जैसा अनाहारक मार्गणा का चार गुणस्थानों में बन्धस्वामित्व बतलाया है।

अनाहारक के दो अर्थ हैं—१—कर्मबन्ध के कारणों का पूर्णरूप से निरोध हो जाने से कर्मों का सर्वथा आहार-ग्रहण न करना। यह अवस्था चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में प्राप्त होती है, इसीलिये चौदहवां गुणस्थान अनाहारक मार्गणा में माना जाता है। २—जिस स्थिति में सिर्फ कार्मण काययोग की पुद्गलवर्गणाओं का ग्रहण होता हो उसे अनाहारक अवस्था कहते हैं। इस दृष्टि से संसारी जीव जब एक शरीर को छोड़कर भवान्तर-प्राप्ति के लिये विग्रहगति द्वारा गमन करता है, उस स्थिति में कार्मण योग साथ रहता है, अन्य औदारिक काय आदि की ग्राह्य वर्गणायें नहीं रहती हैं। इस विग्रहगति में स्थित जीवों के सिर्फ पहला, दूसरा और चौथा यह तीन गुणस्थान होते हैं।

सयोगिकेवली (तेरहवां गुणस्थान) अनाहारक मार्गणा में इसलिये ग्रहण किया गया है कि आयु कर्म के परमाणुओं से अन्य कर्मों की स्थिति अधिक हो तो उनको आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिये समुद्घात किया करते हैं। इस समुद्घात स्थिति में सिर्फ कार्मण योग रहता है और अधिक स्थिति वाले कर्मों को विपाकोदय द्वारा आयुकर्म की स्थिति के बराबर कर लिया जाता है। यह समुद्घात सयोगिकेवली द्वारा होता है, इसीलिये तेरहवां गुणस्थान अनाहारक मार्गणा में माना गया और वहां सिर्फ साता-वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

आहारक एवं आहारकमिश्र काययोग का बन्ध-स्वामित्व

कर्मग्रन्थ के मतानुसार आहारक और आहारकमिश्र काययोग का बन्ध-स्वामित्व सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा बन्धाधिकार में बताये गये छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान के जैसा ६३ प्रकृतियों का है और गुणस्थान छठा बतलाया है।

लेकिन पंचसंग्रह सप्ततिका का मत है कि आहारक काययोग में छठा और सातवाँ यह दो गुणस्थान हैं तथा आहारकमिश्र काययोग में सिर्फ छठा गुणस्थान है। तब आहारक काययोग का बन्ध छठे गुणस्थान में ६३ व सातवें गुणस्थान में ५७ और देवायु का बन्ध न हो तो ५६ प्रकृतियों का माना जाना चाहिए।

उक्त मन्तव्य का आधार यह है कि आहारक शरीर का बन्धयोग्य गुणस्थान सातवाँ है और उदययोग्य छठा। जब चौदह पूर्वधारी आहारक शरीर करता है, उस समय लब्धि का उपयोग करने से प्रमादयुक्त होने से छठा गुणस्थान होता है और आहारक शरीर का प्रारम्भ करते समय वह औदारिक के साथ मिश्र होता है, यानी आहारक और आहारकमिश्र काययोग में छठा गुणस्थान होता है किन्तु बाद में विशुद्धि की शक्ति से सातवें गुणस्थान में आता है तब आहारक योग ही रहता है और गुणस्थान सातवाँ।

इस दृष्टि से आहारक काययोग में छठा और सातवाँ तथा आहारकमिश्र काययोग में छठा गुणस्थान माना जाना चाहिये और तब आहारक काययोग में ६३ और ५७ तथा आहारकमिश्र काययोग में ६३ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य होंगी।

गोम्मटसार कर्मकांड में आहारक काययोग में ६३ प्रकृतियाँ और आहारकमिश्र काययोग में देवायु का बन्ध न मानने से ६२ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी हैं। देवायु के बन्ध न मानने का कारण यह नियम है कि मिश्र अवस्था में आयु का बन्ध नहीं होता है।

वैक्रियमिश्र काययोग का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०२ प्रकृतियाँ गुणस्थान — १, २, ४ (कुल तीन)

सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, नरकत्रिक, देवत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, तिर्यंचायु, मनुष्यायु निकालने — १०२

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०१	१ तीर्थंकर नाम	×	मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, नपुंसकवेद, सेवार्त संहनन = ७
२	९४	×	×	बन्धाधिकार में बताई गई २५ प्रकृतियों में से तिर्यंचायु को छोड़कर २४ प्रकृतियाँ
४	७१	×	१ तीर्थंकरनाम	

विशेष—यद्यपि लब्धिजन्य वैक्रियशरीर की अपेक्षा वैक्रिय और वैक्रियमिश्र काययोग में पाँचवाँ और छठा गुणस्थान होना भी सम्भव है, लेकिन वैक्रिय काययोग में एक से चार और वैक्रियमिश्र काययोग में १, २, ४, गुणस्थान मानने का कारण यह है कि यहाँ स्वाभाविक भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा की गई है। इसीलिये वैक्रिय काययोग में चार और वैक्रियमिश्र काययोग में १, २, ४ यह तीन गुणस्थान माने हैं।

पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, भव्य, संज्ञी का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १२० — गुणस्थान—१४ गुणस्थान

ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मों की बन्धाधिकार में बताई गई १२० प्रकृतियाँ

गु०क्र०	बन्धयोग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	११७	३ तीर्थंकर आहा०शरीर आहा०अंगो०		बन्धाधिकार के अनुसार १६
२	१०१	×	×	बन्धाधिकार के अनुसार २५
३	७४	२ देव व मनुष्य आयु	×	×
४	७७	×	३ तीर्थंकर नाम, देव व मनुष्यायु	बन्धाधिकार के अनुसार १०
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान ४
६	६३	×		बन्धाधिकार के समान ६/७

गु० स्था०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
७	५६/५८	×	२ आहारक शरीर आहारक अंगो०	बन्धाधिकार के अनुसार १
८	५८ ५६ २६	×	×	बन्धाधिकार के अनुसार २ बन्धाधिकार के अनुसार ३० बन्धाधिकार के अनुसार ४
९	२२ २१ २० १९ १८	× × × × ×	× × × × ×	बन्धाधिकार के अनुसार १ " " १ " " १ " " १ " " १
१०	१७	×	×	बन्धाधिकार के अनुसार १६
११	१	×	×	×
१२	१	×	×	×
१३	१	×	×	बन्धाधिकार के अनुसार १
१४	×	×	×	×

१ वेदमार्गणा तथा कषायमार्गणा के सामान्य भेदों — क्रोध, मान, माया और लोभ — में से क्रोध, मान, माया इन तीन भेदों में बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० हैं तथा पहले मिथ्यात्व से नौवें अनिवृत्तिकरण तक नौ गुणस्थान होते हैं। उनमें ऊपर कहे गये बन्ध के अनुसार प्रत्येक गुणस्थान में बन्धस्वामित्व समझना।

२ कषायमार्गणा के चौथे सामान्य भेद लोभ में बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ हैं और गुणस्थान मिथ्यात्व से सूक्ष्मसंपरायपर्यन्त दस होते हैं। इनका बंध-स्वामित्व ऊपर कहे गये अनुसार जानना।

३ अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) प्रारम्भ के दो गुणस्थानों में पाई जाती है। इसमें तीर्थंङ्कर एवं आहारकद्विक का बन्ध सम्भव नहीं है। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वसापेक्ष है और आहारकद्विक का बन्ध संयमसापेक्ष। किन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय में न सम्यक्त्व है और न चारित्र। अतः तीन प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से ११७ और गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान पहले से ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

४ अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का उदय आदि के चार गुणस्थान पर्यन्त रहता है अतः इसमें चार गुणस्थान माने जाते हैं। इस कषाय के रहते हुए भी सम्यक्त्व होने से तीर्थंङ्कर प्रकृति का बन्ध हो सकता है किन्तु सर्वविरत चारित्र न होने से आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता। अतः आहारकद्विक के बन्धयोग्य न होने से सामान्य से ११८ प्रकृतियाँ तथा गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान आदि के चार गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

५ प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क में एकदेश चारित्र होने से आदि के पाँच गुणस्थान होते हैं। तीर्थंङ्कर प्रकृति बन्धयोग्य है लेकिन आहारक-द्विक का बन्ध सम्भव नहीं है। अतः सामान्य से ११८ प्रकृतियाँ तथा गुण-स्थानों में एक से लेकर पाँचवें तक क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७, ६७ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

६ संज्वलन कषायचतुष्क में से क्रोध, मान, माया का उदय मिथ्यात्व से अनिवृत्ति गुणस्थानपर्यन्त नौ गुणस्थानों में होता है, तथा लोभ का उदय दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक। अतः सामान्य से बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० हैं तथा गुणस्थानों की अपेक्षा संज्वलन क्रोध, मान और माया का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के समान पहले से लेकर नौ गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१ आदि समझना चाहिये। संज्वलन लोभ दसवें गुणस्थान तक रहता है अतः नौ गुणस्थान तक तो क्रोध, मान और माया के बन्ध जैसा और दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

७ ज्ञानमार्गणा के भेद अज्ञानत्रिक (मति-अज्ञान, श्रुताज्ञान, अवधि-अज्ञान—विभंगज्ञान) में आदि के दो या तीन गुणस्थान होते हैं। इनमें सम्यक्त्व और चारित्र नहीं होने से तीर्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों के बन्धयोग्य नहीं होने से सामान्य बन्धयोग्य ११७ प्रकृतियाँ हैं और तीनों गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान क्रमशः ११७, १०१, ७४ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

८ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान तथा अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओं में चौथे अविरत से लेकर बारहवें क्षीणमोहपर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। इनमें आहारकद्विक का बन्ध संभव है, अतः सामान्य से चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों के साथ आहारकद्विक को मिलाने से ७९ प्रकृतियाँ हैं, तथा गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान क्रमशः ७७, ६७, आदि बारहवें गुणस्थान तक समझना चाहिये।

९ मनःपर्यायज्ञान छठे प्रमत्तसंयत से लेकर बारहवें क्षीणमोहपर्यन्त होता है। अतः इसमें सात गुणस्थान हैं तथा आहारकद्विक का बन्ध संभव होने से ६३ + २ = ६५ प्रकृतियाँ सामान्य बन्धयोग्य हैं और गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान छह से बारह तक का बन्धस्वामित्व जानना।

१० केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो मार्गणाओं में अन्तिम दो गुणस्थान—सयोगिकेवली, अयोगिकेवली—होते हैं। अयोगिकेवली गुणस्थान में तो बन्ध-कारण का अभाव होने से किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता है

लेकिन तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में सिर्फ एक प्रकृति—सातावेदनीय का बन्ध होता है।

११ दर्शनमार्गणा के भेद चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन क्षायोपशमिक भाव होने से पहले से लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहते हैं अतः इनका बन्धस्वामित्व सामान्य से और गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान है। अर्थात् सामान्य बन्धयोग्य १२० और गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ आदि बारहवें गुणस्थान तक समझना चाहिये।

१२ संयममार्गणा के भेद अविरति में आदि के चार गुणस्थान होते हैं। चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने से तीर्थंकरनाम का बन्ध हो सकता है किन्तु चारित्र न होने से चारित्रसापेक्ष आहारकद्विक का बन्ध न होने से ११८ प्रकृतियाँ सामान्य बन्धयोग्य हैं और गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान पहले से चौथे तक क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

१३ सामायिक, छेदोपस्थापनीय ये दो संयम छठे से नौवें गुणस्थानपर्यन्त चार गुणस्थान में पाये जाते हैं। इनमें आहारकद्विक का बन्ध सम्भव है। अतः छठे गुणस्थान की बन्धयोग्य ६३ प्रकृतियों के साथ आहारद्विक को (६३+२) जोड़ने से सामान्य से ६५ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं और छठे, सातवें, आठवें, नौवें गुणस्थान में क्रमशः ६३,/५६/५८,/५८/५६/२६, २२/२१/२०/१६/१८ का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

१४ परिहारविशुद्धि संयम में छठा और सातवाँ यह दो गुणस्थान हैं। इस संयम में आहारकद्विक का उदय नहीं होता है, किन्तु बन्ध संभव है। अतः बन्धयोग्य ६५ प्रकृतियाँ हैं और गुणस्थानों में क्रमशः ६३, ५६/५८ का बन्धस्वामित्व समझना।

१५ सूक्ष्मसंपराय संयम में अपने नाम वाला सूक्ष्मसंपराय नामक दसवां गुणस्थान एवं देशविरत संयम में अपने नाम वाला देशविरत नामक पाँचवां गुणस्थान होता है। इन दोनों का बन्धस्वामित्व सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा अपने गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों का है अर्थात् सूक्ष्मसंपराय में १७ और देशविरत में ६७ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

१६ यथाख्यातचारित्र में अन्तिम चार (उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोगिकेवली) गुणस्थान हैं। इन चार गुणस्थानों में से अयोगिकेवली गुणस्थान में बन्ध-कारण का अभाव होने से किसी प्रकृति का बन्ध नहीं होता है किन्तु शेष तीन गुणस्थानों में बन्धाधिकार के अनुसार सामान्य व विशेष एक प्रकृति—साता वेदनीय—का बन्ध होता है।

१७ उपशम सम्यक्त्व चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इस सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि आयुबन्ध नहीं होता है। चौथे गुणस्थान में मनुष्यायु और देवायु का तथा पाँचवें आदि में देवायु का बन्ध नहीं होने से चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों में से उक्त दो आयु को कम करने से सामान्य की अपेक्षा ७५ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। अतः पाँचवें से सातवें गुणस्थान तक बन्धाधिकार में बताई गई बन्धसंख्या में से एक-एक प्रकृति को कम करने पर क्रमशः ६६, ६२, ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसके बाद आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक बन्धाधिकार के अनुसार बन्धस्वामित्व है।

१८ वेदक (क्षायोपशमिक) में आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से उपशम या क्षपक श्रेणी का क्रम प्रारम्भ हो जाने से चौथे अविरति से लेकर सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक का बन्ध सम्भव है, अतः चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों के साथ आहारकद्विक को जोड़ने से ७६ प्रकृतियाँ सामान्य से बन्धयोग्य हैं और गुणस्थानों में बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार में बताये गये अनुसार क्रमशः ७७, ६७, ६३, ५६।५८ प्रकृतियों का है।

१६ दर्शनमोह के क्षय से जन्य क्षायिक सम्यक्त्व में चौथे से चौदहवें तक ग्यारह गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक का बन्ध सम्भव होने से सामान्यरूप में बन्धस्वामित्व ७६ प्रकृतियों का है और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धाधिकार में गुणस्थानों के क्रम से क्रमशः ७७, ६७, ६३, ५६।५८ आदि से १ प्रकृति पर्यन्त तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान पर्यन्त

बन्ध समझना चाहिये। चौदहवाँ अयोगिकेवली गुणस्थान बन्ध-कारण न होने से अबन्धक है।

२० मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्रदृष्टि ये तीन भी सम्यक्त्व मार्गणा के अवान्तर भेद हैं। इनमें अपने-अपने नाम वाला क्रमशः पहला, दूसरा, तीसरा, एक-एक गुणस्थान होता है। तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—इन तीन प्रकृतियों के बन्धयोग्य न होने से मिथ्यात्व में ११७, सासादन में १०१ और मिश्रदृष्टि में ७४ प्रकृतियाँ सामान्य से बन्धयोग्य हैं।

२१ अभव्य जीवों के सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। मिथ्यात्व के कारण सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति न होने से तीर्थङ्कर और आहारकद्विक का बन्ध सम्भव नहीं है। इसलिये सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा ११७ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

२२ असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान होते हैं। इनके सामान्य से और पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर और आहारकद्विक का बन्ध नहीं होने से ११७ प्रकृतियों का तथा दूसरे गुणस्थान में बन्धाधिकार के कथनानुसार १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

२३ आहारक मार्गणा में सभी कर्मावृत संसारी जीवों का ग्रहण होने से पहले मिथ्यात्व से लेकर तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान हैं। इसका बन्धस्वामित्व सामान्य से और गुणस्थानों की अपेक्षा प्रत्येक में बन्धाधिकार के कथनानुसार जानना चाहिये। अर्थात् सामान्य बन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ हैं और गुणस्थानों में ११७, १०१, ७४, ७७, ६७ आदि का क्रम सयोगिकेवली तक का समझना चाहिए।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओं का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ११८ प्रकृतियाँ गुणस्थान—आदि के चार

बन्धाधिकार में कही गई १२० प्रकृतियों में आहारकद्विक से विहीन—११८।

गु०क०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	११७	१ तीर्थंकरनाम कर्म	×	बन्धाधिकार के समान १६
२	१०१	×	×	बन्धाधिकार के समान २५
३	७४	२ देव व मनुष्यायु	×	×
४	७७	×	३ तीर्थंकर नाम, देव व मनुष्यायु	

कृष्णादि तीन लेश्याओं में आहारकद्विक का बन्ध न मानने का कारण यह है कि इनका बन्ध सातवें गुणस्थान में ही होता है और कृष्णादि तीन लेश्या वाले अधिक से अधिक छठे गुणस्थान तक पाये जा सकते हैं। इसीलिए इन लेश्याओं के सामान्य से ११८ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व माना है।

कर्मग्रन्थों में कृष्णादि तीन लेश्याओं के चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बंध कहा है और इनमें मनुष्यायु व देवायु का समावेश है। लेकिन सिद्धान्त का मत है कि कृष्णादि तीन लेश्याओं के चौथे गुणस्थान में जो

मनुष्यायु और देवायु का बन्ध कहा है, वहाँ सिर्फ मनुष्यायु को बाँधते हैं परन्तु देवायु को नहीं बाँधते हैं। अतः ७७ की बजाय ७६ प्रकृतियों का बन्ध मानना चाहिए।

सिद्धान्त के उक्त मत का समाधान कर्मग्रन्थ में कहीं नहीं किया गया है और बहुश्रुतगम्य कहकर छोड़ दिया है। लेकिन विचारणीय अवश्य है और जब तक इसका समाधान नहीं होता तब तक यह मानना पड़ेगा कि कृष्णादि तीन लेश्या वाले सम्यग्दृष्टि के जो प्रकृतिबन्ध में देवायु की गणना है वह कर्मग्रन्थ सम्बन्धी मत है, सैद्धान्तिक मत नहीं है।

□

तेजोलेश्या का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १११ प्रकृतियाँ   गुणस्थान—आदि के सात

नरकनवक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय विहीन=१११

गु० स्था०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०८	३ तीर्थंकरनाम, आहारकद्विक	×	मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, नपुंसक वेद, सेवार्त संह०, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप=७
२	१०१	×	×	बन्धाधिकार के समान =२५
३	७४	२ देव व मनुष्य आयु	×	×
४	७७	×	३ तीर्थंकरनाम, देव व मनुष्यायु	बन्धाधिकार के समान १०
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान ४
६	६३	×		बन्धाधिकार के समान ६/७
७	५६।५८	×	२ आहारकद्विक	×

पद्मलेश्या में आदि के ७ गुणस्थान होते हैं, लेकिन इसके सामान्य बन्ध-स्वामित्व में यह विशेषता है कि तेजोलेश्या के नरकनवक के साथ एकेन्द्रिय त्रिक—एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप—का भी बन्ध नहीं होने से सामान्यबन्ध १०८ प्रकृतियों का है और पहले गुणस्थान में तीर्थङ्करनाम और आहारक-द्विक यह तीन प्रकृतियाँ अबन्ध होने से १०५ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। उनमें से मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, नपुंसकवेद, सेवार्त संहनन इन चार प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होने पर दूसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियाँ होती हैं। तीसरे से लेकर सातवें गुणस्थान तक का बन्ध बन्धाधिकार के समान समझना चाहिये।

शुक्ललेश्या का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०४ प्रकृतियाँ   गुणस्थान—पहले से तेरहवें तक

उद्योतचतुष्क—उद्योतनाम, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु तथा नरकत्रिक (पद्मलेश्या में बतलाई गई) विहीन = १०४

गु० क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०१	३ तीर्थंकर नाम, आहारकद्विक	×	नपुंसकवेद, हुंड संस्थान, मिथ्यात्व, सेवार्त संहनन = ४
२	९७	×	×	बन्धाधिकार की २५ प्रकृतियों में से उद्योतचतुष्क न्यून = २१
३	७४	२ देव व मनुष्यायु	×	
४	७७	×	३ तीर्थंकर नाम, देव व मनुष्यायु	बन्धाधिकार के समान १०
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान ४
६	६३	×	×	बन्धाधिकार के समान ६।७
७	५९।५८	×	२ आहारकद्विक	बन्धाधिकार के समान १
८	५८	×	× × ×	बन्धाधिकार के समान २ बन्धाधिकार के समान ३० बन्धाधिकार के समान ४

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
९	२२	×	×	बन्धाधिकार के समान १
	२१	×	×	,, ,, १
	२०	×	×	,, ,, १
	१९	×	×	,, ,, १
	१८	×	×	,, ,, १
१०	१७	×	×	,, ,, १६
११	१	×	×	×
१२	१	×	×	×
१३	१	×	×	

मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व का वर्णन समाप्त

जैन-कर्मसाहित्य का संक्षिप्त परिचय

भारतीय तत्त्वचिन्तन की मुख्य तीन शाखाएं हैं—(१) वैदिक, (२) बौद्ध और (३) जैन। इन तीनों शाखाओं के वाङ्मय में कर्मवाद के सम्बन्ध में विचार किया गया है। वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में किया गया कर्म-सम्बन्धी विचार इतना अल्प है कि उनमें सिर्फ कर्म-विषयक विचार करने वाले कोई अलग ग्रन्थ नहीं हैं; यत्र-तत्र प्रासंगिक रूप में यत्किंचित् विचार अवश्य किया गया है। लेकिन इसके विपरीत जैन वाङ्मय में कर्म-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें कर्मवाद का क्रमबद्ध, विकासोन्मुखी, पूर्वापर शृंखलाबद्ध एवं सुव्यवस्थित अतिव्यापक रूप में विवेचन किया गया है। जैन-साहित्य में कर्म-सम्बन्धी साहित्य का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है जो कर्मप्राभृत अथवा कर्मग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र कर्मग्रन्थों के अतिरिक्त आगम तथा उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में यत्र-तत्र कर्मविषयक चर्चाएं देखने को मिलती हैं।

कर्मसाहित्य का मूल आधार

जैन वाङ्मय में इस समय जो भी कर्मशास्त्र का संकलन किया गया है, उसमें से प्राचीन माने जाने वाले कर्मविषयक ग्रन्थों का साक्षात् सम्बन्ध श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—दोनों ही जैन परम्पराएं अग्रायणीय पूर्व से बतलाती हैं और अग्रायणीय पूर्व को दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के अन्तर्गत चौदह पूर्वों में से दूसरा पूर्व कहती हैं। दोनों ही परम्पराएँ समान रूप से मानती हैं कि बारह अंग और चौदह पूर्व भगवान महावीर की दिव्य वाणी का साक्षात् फल हैं। अर्थात् वर्तमान में विद्यमान समग्र कर्मशास्त्र शब्दरूप से नहीं तो भावरूप से भगवान महावीर के साक्षात् उपदेश का ही परम्परा से प्राप्त सार है। इसी प्रकार से एक दूसरी मान्यता भी है कि वस्तुतः समस्त अंगविद्यायें भावरूप से केवल भगवान महावीरकालीन ही नहीं; बल्कि पूर्व-पूर्व में हुए अन्य तीर्थङ्करों से भी पूर्वकाल की हैं, अतएव अनादि हैं, किन्तु प्रवाह

रूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होने वाले तीर्थङ्करों द्वारा वे अंग-विद्याएँ नवीन रूप धारण करती रहती हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्राचार्य ने प्रमाण मीमांसा में कहा है—

अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तारविवक्षया नवनवीभवन्ति, तत्तत् कर्तृकाश्चोच्यन्ते। किन्नाश्रौषीः न कदाचिदनीदृशं जगत्।

अनादिकाल से प्रवाहरूप में चले आ रहे इस कर्मशास्त्र का भगवान महावीर से लेकर वर्तमान समय तक जो संकलन हुआ है, उसके निम्नलिखित तीन विभाग किये जा सकते हैं—

(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (२) पूर्वोद्‌धृत कर्मशास्त्र और (३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

१२ (१) **पूर्वात्मक कर्मशास्त्र**—यह भाग सबसे बड़ा और पहला है। इसका अस्तित्व पूर्वविद्या के विच्छिन्न होने के समय तक माना जाता है। भगवान
१३ महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास रूप में पूर्वविद्या विद्यमान रही। चौदह पूर्वों में से आठवाँ पूर्व कर्मप्रवाद है, जो मुख्यतया कर्मविषयक ही था। इसी प्रकार अग्रायणीय पूर्व नामक दूसरे पूर्व में भी कर्मप्राभृत नामक एक भाग था। लेकिन वर्तमान श्वेताम्बर तथा दिगम्बर साहित्य में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का पूर्ण अंश नहीं रहा है।

(२) **पूर्वोद्‌धृत कर्मशास्त्र**—यह विभाग पहले विभाग की अपेक्षा काफी छोटा है, लेकिन वर्तमान अभ्यासियों की दृष्टि से काफी बड़ा है। इसलिए इसे 'आकर कर्मशास्त्र' यह संज्ञा दी है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्‌धृत है और श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों के कर्मशास्त्र में यह पूर्वोद्‌धृत अंश विद्यमान है, ऐसी मान्यता है। साहित्य उद्धार के समय सम्प्रदायभेद रूढ़ हो जाने के कारण उद्‌धृत अंश कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। जैसे कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में—(१) कर्म प्रकृति, (२) शतक, (३) पंचसंग्रह, (४) सप्ततिका और दिगम्बर सम्प्रदाय में—(१) महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, (२) कषायप्राभृत। दोनों सम्प्रदाय अपने-अपने उक्त ग्रन्थों को पूर्वोद्‌धृत मानते हैं।

(३) **प्राकरणिक कर्मशास्त्र**—यह विभाग तीसरी संकलना का परिणाम है। इसमें कर्मविषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थों को सम्मिलित किया गया

है। आजकल विशेषतया इन्हीं प्रकरण ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन का प्रचलन है। इन प्रकरण ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद पूर्वोद्धृत ग्रन्थों (आकर ग्रन्थों) का अध्ययन करने की परम्परा अभ्यासियों में प्रचलित है। ये प्राकरणिक ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण है और आकर ग्रन्थों का अभ्यास करने से पूर्व इनका अध्ययन करना जरूरी है।

यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक निर्मित एवं पल्लवित हुआ है।

संकलना की दृष्टि से कर्मशास्त्र के जैसे तीन विभाग किये गये हैं, वैसे ही भाषा की दृष्टि से भी उसे तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) प्राकृत भाषा, (२) संस्कृत भाषा और (३) प्रचलित लोक भाषा।

पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र का आकलन प्राकृत भाषाओं में हुआ है। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी बहुत बड़ा भाग प्राकृत भाषा में निबद्ध किया गया है तथा मूलग्रन्थों के अतिरिक्त उन पर टीका-टिप्पण भी प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं।

प्राकृत भाषा के अनन्तर जब संस्कृत भाषा साहित्य की भाषा बन गई और प्रायः संस्कृत में साहित्य का निर्माण व्यापक रूप से होने लगा तो जैनाचार्यों ने भी संस्कृत में कर्मशास्त्र की रचना की एवं अधिकतर संस्कृत भाषा में कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पण आदि लिखे। कुछ मूल प्राकरणिक कर्मग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये भी उपलब्ध होते हैं।

लोकभाषा में मुख्यतया कर्णाटकी, गुजराती और राजस्थानी हिन्दी—इन तीन भाषाओं का समावेश होता है। इन भाषाओं में भी कुछ मौलिक कर्मग्रन्थ लिखे गये हैं। लेकिन उनकी गणना अत्यल्प है। विशेषकर इन भाषाओं का उपयोग मूल तथा टीकाओं के अनुवाद करने में ही किया गया है। ये टीका-टिप्पण, अनुवाद आदि प्राकरणिक कर्मशास्त्रों पर लिखे गये हैं। कर्णाटकी और हिन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर साहित्यकारों ने लिया और गुजराती भाषा का श्वेताम्बर साहित्य मर्मज्ञों ने।

वर्तमान में उपलब्ध कर्मसाहित्य का ग्रन्थमान लगभग सात लाख श्लोक प्रमाण माना गया है और समय की दृष्टि से विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी

से बीसवीं शताब्दी तक का प्राप्त होता है। इस काल में टीका, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति आदि के रूप में आचार्यों ने कर्मशास्त्र को विस्तृत रूप दिया है।

जैन आचार्यों ने कर्मविषयक विचारणा व्यापक रूप से की है। लेकिन भगवान महावीर का शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में विभाजित हो जाने से यह विचारणा भी विभाजित-सी हो गई। सम्प्रदायभेद इतना कट्टर हो गया कि भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट कर्मतत्त्व पर मिलकर विचार करने का अवसर भी दोनों सम्प्रदायों के विद्वान प्राप्त न कर सके। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय में मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दों, उनकी व्याख्याओं और कहीं-कहीं उनके तात्पर्य में थोड़ा-बहुत भेद हो गया। इन भिन्नताओं पर तटस्थ दृष्टि से विचार करें तो भेद में भी अभेद के दर्शन होते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनदर्शन की मौलिक देन कर्मवाद की गरिमा को सुरक्षित रखने में जैनाचार्य सर्वात्मना सजग रहे और कर्मसाहित्य के मूल हार्द को सुरक्षित रखा।

कतिपय प्रमुख कर्मग्रन्थ

वर्तमान में उपलब्ध कर्मग्रन्थों अथवा जिनके होने का पता अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित उल्लेखों से लगता है,[1] उनका बहुत-सा भाग अप्रकाशित है। लेकिन जो ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, उन से भी जैन कर्मसाहित्य का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। प्रकाशित ग्रन्थों की सूची देखने से यह ज्ञात होता है कि मूल ग्रन्थ के भाष्य अथवा संस्कृत टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। प्रादेशिक भाषाओं में रचित टीकाएँ अभी भी अप्रकाशित हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रकाशित एवं अध्ययन-अध्यापन में अधिकतर प्रचलित कतिपय ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

कर्मप्रकृति

इस ग्रन्थ में ४७५ गाथाएँ हैं, जो अग्रायणीय पूर्व नामक द्वितीय पूर्व के आधार पर संकलित की गई हैं। इस ग्रन्थ में आचार्य ने कर्म सम्बन्धी बन्धन, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति और निकाचना—इन आठ

---

१ सटीकाश्चत्वारः कर्मग्रन्थाः (मुनि पुण्यविजयजी द्वारा संपादित)।

करणों एवं उदय तथा सत्ता इन दो अवस्थाओं का वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने मंगलाचरण के रूप में भगवान महावीर को नमस्कार किया है एवं कर्माष्टक के आठ करण, उदय और सत्ता— इन दस विषयों का वर्णन करने का संकल्प किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता शिवशर्मसूरि हैं और उनका समय अनुमानतः विक्रम की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। सम्भवतः ये आगमोद्धारक देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती या समकालीन हों। सम्भवतः ये दशपूर्वधर भी हों। लेकिन इन सब सम्भावनाओं पर प्रकाश डालने वाली सामग्री का प्रायः अभाव ही है; फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिवशर्म सूरि एक प्रतिभासम्पन्न पारंगत विद्वान थे और उनका कर्मविषयक ज्ञान बहुत ही गहन और सूक्ष्म था। कर्मप्रकृति के अतिरिक्त शतक (प्राचीन पंचम कर्मग्रन्थ) भी आपकी कृति मानी जाती है। एक मान्यता ऐसी भी है कि सप्ततिका (प्राचीन षष्ठ कर्मग्रन्थ) भी आपकी कृति है। दूसरी मान्यता है कि सप्ततिका चन्द्रर्षि महत्तर की कृति है।

कर्मप्रकृति की व्याख्याएँ—कर्मप्रकृति की तीन व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से एक प्राकृत चूर्णि है। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। सम्भवतः यह चूर्णि सुप्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर की हो। संस्कृत की टीकाओं में एक टीका सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरिकृत है और दूसरी न्यायाचार्य यशोविजयगणिकृत है। इन तीनों व्याख्याओं में चूर्णि का ग्रन्थमान सात हजार श्लोक प्रमाण, मलयगिरिकृत टीका का ग्रन्थमान आठ हजार श्लोक प्रमाण तथा यशोविजयकृत टीका का ग्रन्थमान तेरह हजार श्लोक प्रमाण है।

पंचसंग्रह

पंचसंग्रह में लगभग एक हजार गाथाएँ हैं। इनमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बन्ध आदि आठ करण एवं इसी प्रकार के अन्य विषयों का विवेचन किया गया है। प्रारम्भ में आठ कर्मों का नाश करने वाले वीर जिनेश्वर को नमस्कार करके महान अर्थ वाले पंचसंग्रह नामक ग्रंथ की रचना का संकल्प किया गया है।

इसके बाद ग्रन्थकार ने 'पंचसंग्रह' नाम की दो प्रकार से सार्थकता बतलाते

हुए लिखा है कि इसमें शतकादि पाँच ग्रन्थों को संक्षेप में समाविष्ट किया गया है अथवा पाँच द्वारों का संक्षेप में परिचय दिया है। पाँच द्वारों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) योगोपयोग मार्गणा, (२) बन्धक, (३) बन्धव्य, (४) बन्धहेतु और (५) बन्धविधि।

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर हैं। ग्रंथकार ने योगोपयोग मार्गणा आदि पाँच द्वारों के नामों का उल्लेख भी अवश्य किया है; लेकिन इन द्वारों के आधारभूत शतक आदि पाँच ग्रंथ कौन-से हैं, इसका संकेत मूल एवं स्वोपज्ञ टीका में नहीं किया है। आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की अपनी टीका में स्पष्ट किया है कि ग्रन्थकार ने शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थों का समावेश किया है। इन पाँच ग्रन्थों में से कषायप्राभृत के सिवाय चार ग्रन्थों का आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में प्रमाण रूप से उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि कषायप्राभृत को छोड़कर शेष चार ग्रन्थ आचार्य मलयगिरि के समय में विद्यमान थे। इन चार ग्रन्थों में भी आज सत्कर्म अनुपलब्ध है और शेष तीन ग्रन्थ—शतक, सप्ततिका एवं कर्मप्रकृति इस समय उपलब्ध हैं।

पंचसंग्रहकार चन्द्रर्षि महत्तर के समय, गच्छ आदि का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में इतना-सा उल्लेख अवश्य किया है कि वे पार्श्वर्षि के शिष्य थे। इसी प्रकार महत्तर पद के विषय में भी किसी प्रकार का उल्लेख अपनी स्वोपज्ञ टीका में नहीं किया है। सम्भवतः सामान्य प्रचलित उल्लेखों के आधार पर ही उन्हें महत्तर कहा गया है।

आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर के समय के विषय में यही कहा जा सकता है कि गर्गर्षि, सिद्धर्षि, पार्श्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि ऋषि शब्दान्त नाम विशेष रूप से नौवीं-दसवीं शताब्दी में अधिक प्रचलित थे, अतः ये विक्रम की नौवीं-दसवीं शताब्दी में विद्यमान रहे हों। पंचसंग्रह और उसकी स्वोपज्ञ टीका के सिवाय चन्द्रर्षि महत्तर की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है।

पंचसंग्रह की व्याख्यायें—पंचसंग्रह की दो महत्त्वपूर्ण टीकायें प्रकाशित

है—स्वोपज्ञ वृत्ति एवं मलयगिरिकृत टीका। स्वोपज्ञ वृत्ति नौ हजार श्लोक प्रमाण तथा मलयगिरिकृत टीका अठारह हजार श्लोक प्रमाण है।

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ—देवेन्द्रसूरिरचित कर्मग्रन्थ नवीन कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं, जबकि उनके आधारभूत पुराने कर्मग्रन्थ प्राचीन कर्मग्रन्थ कहलाते हैं। इस प्रकार के प्राचीन कर्मग्रन्थों की संख्या छह है और ये शिवशर्म सूरि आदि भिन्न-भिन्न आचार्यों की कृतियाँ हैं। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) कर्मविपाक, (२) कर्मस्तव, (३) बन्धस्वामित्व, (४) षडशीति, (५) शतक, (६) सप्ततिका।

कर्मविपाक के कर्ता गर्गर्षि हैं। इनका समय सम्भवतः विक्रम की दसवीं शताब्दी है। कर्मविपाक की तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं—परमानन्द सूरिकृत वृत्ति, उदयप्रभसूरिकृत टिप्पण और एक अज्ञात कर्तृक व्याख्या। ये तीनों टीकाएँ विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की रचनाएँ प्रतीत होती हैं।

कर्मस्तव के कर्ता अज्ञात हैं। इस पर दो भाष्य एवं दो टीकाएँ हैं। टीकाओं में एक गोविन्दाचार्यकृत वृत्ति है और दूसरी उदयप्रभसूरिकृत टिप्पण के रूप में है। इन दोनों का रचनाकाल सम्भवतः विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है।

बंधस्वामित्व के कर्ता भी अज्ञात हैं। इस पर हरिभद्रसूरिकृत वृत्ति है, जो वि० सं० ११७२ में लिखी गई है।

षडशीति जिनवल्लभगणि की कृति है और इसकी रचना विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हुई है। इस पर दो अज्ञात कर्तृक भाष्य और अनेक टीकाएँ हैं। टीकाकारों में हरिभद्रसूरि व मलयगिरि मुख्य हैं। इसका अपरनाम आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरण है।

शतक के कर्ता शिवशर्मसूरि हैं। इस पर तीन भाष्य, एक चूर्णि व तीन टीकाएँ हैं। भाष्यों में दो लघु भाष्य हैं और बृहद् भाष्य के कर्ता चक्रेश्वरसूरि हैं। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। तीन टीकाओं में एक के कर्ता मलधारी हेमचन्द्र (विक्रम की बारहवीं शताब्दी), दूसरी के उदयप्रभसूरि और तीसरी के गुणरत्नसूरि (विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी) हैं।

सप्ततिका के कर्ता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कोई चन्द्रर्षि महत्तर को इसका कर्ता मानते हैं और कोई शिवशर्मसूरि को। इस पर अभयदेवसूरिकृत भाष्य, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, चन्द्रर्षि महत्तरकृत प्राकृत वृत्ति, मलयगिरिकृत टीका, मेरुतुंगसूरिकृत भाष्यवृत्ति, रामदेवकृत टिप्पण व गुणरत्नसूरिकृत अवचूरि है।

इन छह ग्रन्थों में प्रथम पांच में उन्हीं विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जो देवेन्द्रसूरि कृत पांच नव्य कर्मग्रन्थों में सार रूप से है। सप्ततिका (षष्ठकर्म ग्रन्थ) में निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है—

बन्ध, उदय, सत्ता व प्रकृतिस्थान, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्तर प्रकृतियां एवं बन्ध आदि स्थान, आठ कर्मों के उदीरणा स्थान, गुणस्थान एवं प्रकृति बन्ध, गतियां एवं प्रकृतियां, उपशम श्रेणी व क्षपक श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी आरोहण का अन्तिम फल।

नव्य कर्मग्रन्थ

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थों में से पांच कर्मग्रन्थों के आधार पर आचार्य देवेन्द्र सूरि ने जिन पांच कर्मग्रन्थों की रचना की है, वे नव्य कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं। इन कर्मग्रन्थों के नाम भी वही हैं—कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक। ये पांचों कर्मग्रन्थ क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त पांच नामों में से प्रथम द्वितीय और तृतीय नाम विषय की दृष्टि से और अन्तिम दो नाम गाथा संख्या की दृष्टि से रखे गये हैं।

पांच नव्य कर्मग्रन्थों के रचयिता देवेन्द्रसूरि हैं। इन पांच कर्मग्रन्थों की रचना का आधार शिवशर्मसूरि, चन्द्रर्षि महत्तर आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा रचे गये कर्मग्रन्थ हैं। देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थों में केवल प्राचीन कर्मग्रन्थों का भावार्थ अथवा सार ही नहीं दिया है, अपितु नाम, विषय, वर्णन-क्रम आदि बातें भी उसी रूप में रखी हैं। कहीं-कहीं नवीन विषयों का भी समावेश किया है। इन ग्रन्थों की भाषा प्राचीन कर्मग्रन्थों के समान प्राकृत है और छन्द आर्या है।

नव्य कर्मग्रन्थों की व्याख्याएँ—आचार्य देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थों पर स्वोपज्ञ टीका लिखी थी, किन्तु किसी कारण से तृतीय कर्मग्रन्थ की टीका नष्ट हो गई। इसकी पूर्ति के लिए बाद में किसी आचार्य ने अवचूरि रूप नई टीका लिखी है। गुणरत्नसूरि व मुनिशेखरसूरि ने पाँचों कर्मग्रन्थों पर अवचूरियाँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त कमलसंयम उपाध्याय आदि ने भी इन कर्मग्रन्थों पर छोटी-छोटी टीकाएँ लिखी हैं। हिन्दी और गुजराती भाषा में भी इन पर पर्याप्त विवेचन किया गया है।

हिन्दी भाषा में महाप्राज्ञ पं. सुखलाल जी की टीकायें करीब ४० वर्ष पूर्व लिखी गई थीं। अब पुनः मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमलजी म० की व्याख्यासहित श्री श्रीचन्द्र सुराना 'सरस' एवं श्री देवकुमार जैन द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो रहे हैं। इसमें अब तक प्रकाशित कर्मग्रन्थों से कुछ विशिष्टता है। दिगम्बर श्वेताम्बर मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन एवं अनेक प्रकार के यंत्र व तालिकाएँ भी दी गई हैं।

कर्मप्राभृत

इसको महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, षट्खण्डागम आदि भी कहते हैं। इनके रचयिता आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। इसका रचना समय अनुमानतः विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दि है।

यह ग्रन्थ ३६००० श्लोक प्रमाण है। इसकी भाषा प्राकृत (शौरसेनी) है। आचार्य पुष्पदन्त ने १७७ सूत्रों में सत्प्ररूपणा अंश और आचार्य भूतबलि ने ६००० सूत्रों में शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ लिखा है। कर्मप्राभृत के छह खण्डों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) जीवस्थान, (२) क्षुद्रक बन्ध, (३) बन्धस्वामित्वविचय (४) वेदना, (५) वर्गणा, (६) महाबन्ध।

जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाएँ हैं। क्षुद्रक-बन्ध के ग्यारह अधिकार हैं। बन्धस्वामित्वविचय में कर्म प्रकृतियों का जीवों के साथ बन्ध, कर्म प्रकृतियों की गुणस्थानों में व्युच्छित्ति, स्वोदय बन्ध रूप प्रकृतियाँ, परोदय बन्ध रूप प्रकृतियों का कथन किया गया है। वेदना खण्ड में कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वार हैं। वर्गणा खण्ड का मुख्य अधिकार बन्धनीय है, जिसमें वर्गणाओं का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें

स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्ध चार अधिकारों का भी अन्तर्भाव किया गया है।

तीस हजार श्लोक प्रमाण महाबन्ध नामक छठे खण्ड में प्रकृतिबन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध—इन चार प्रकार के बन्धों का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। महाबन्ध की प्रसिद्धि महाधवला के नाम से भी है।

कर्मप्राभृत की टीकाएँ—वीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका कर्म प्राभृत (षट्खंडागम) की अति महत्त्वपूर्ण बृहत्काय व्याख्या है। मूल व्याख्या का ग्रन्थमान ७२००० श्लोक प्रमाण है और रचना काल लगभग विक्रम संवत् ९०५ है।

इस व्याख्या के अतिरिक्त इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार में कर्मप्राभृत की निम्नलिखित टीकाओं के होने का संकेत है। लेकिन वर्तमान में ये टीकाएँ अनुपलब्ध हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कर्मप्राभृत के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ लिखा था। यह टीका ग्रन्थ प्राकृत में था। धवला टीका में इस ग्रन्थ का अनेक बार उल्लेख किया गया है।

आचार्य शामकुण्ड ने पद्धति नामक टीका ग्रन्थ कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डों पर लिखा था। कषायप्राभृत पर भी उनकी इसी नाम की टीका थी। इन दोनों टीकाओं का प्रमाण बारह हजार श्लोक प्रमाण है। भाषा प्राकृत-संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित थी।

तुम्बुलूराचार्य ने भी कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डों तथा कषायप्राभृत पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम चूड़ामणि था। यह टीका चौरासी हजार श्लोक प्रमाण थी और भाषा कन्नड़ थी। इसके अतिरिक्त कर्मप्राभृत के छठे खण्ड पर प्राकृत में पंजिका नामक व्याख्या लिखी थी, जिसका परि-माण सात हजार श्लोक प्रमाण था।

समन्तभद्र स्वामी ने कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डों पर अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी। धवला में यद्यपि समन्तभद्र कृत आप्त-

मीमांसा आदि के अवतरण उद्धृत किये गये हैं, किन्तु प्रस्तुत टीका का उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता है।

बप्पदेव गुरु ने कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत पर टीकाएँ लिखी हैं। कर्मप्राभृत के पाँच खण्डों पर लिखी गई टीका का नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति था। षष्ठ खण्ड पर उनकी व्याख्या संक्षिप्त थी, जो पंचाधिक आठ हजार श्लोक प्रमाण थी। पाँच खण्डों और कषायप्राभृत की टीकाओं का संयुक्त परिमाण साठ हजार श्लोक प्रमाण था। भाषा प्राकृत थी।

कर्मप्राभृत की उपलब्ध टीका धवला के कर्त्ता का नाम वीरसेन है। ये आर्यनन्दि के शिष्य तथा चन्द्रसेन के प्रशिष्य थे। इनके विद्या गुरु एलाचार्य थे। कषायप्राभृत की टीका जयधवला के प्रारम्भ का एकतिहाई भाग भी इन्हीं वीरसेन का लिखा हुआ है।

यह धवला टीका कर्मशास्त्रवेत्ताओं के लिए द्रष्टव्य है।

कषायप्राभृत

कषायपाहुड अथवा कषायप्राभृत को पेज्जदोसपाहुड, प्रेयोद्वेष-प्राभृत अथवा पेज्जदोषप्राभृत भी कहते हैं।

कर्मप्राभृत के समान ही कषायप्राभृत का उद्गम स्थान भी दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग है। उसके ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोष नामक तीसरे प्राभृत से कषायप्राभृत की उत्पत्ति हुई है।

कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर हैं। इन्होंने गाथा सूत्रों में ग्रन्थ को निबद्ध किया है। वैसे तो कषायप्राभृत की २३३ गाथाएँ मानी हैं, परन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थ में १८० गाथाएँ हैं और शेष ५३ गाथाएँ कषाय-प्राभृतकार गुणधराचार्यकृत न होकर संभवतः आचार्य नागहस्ति कृत हों, जो व्याख्या के रूप में बाद में जोड़ी गई हैं।

कषायप्राभृत में जयधवलाकार के अनुसार निम्नलिखित १५ अर्थाधि-कार हैं—

(१) प्रेयोद्वेष, (२) प्रकृतिविभक्ति, (३) स्थितिविभक्ति, (४) अनुभागविभक्ति, (५) प्रदेशविभक्ति—क्षीणाक्षीणप्रदेश—स्थित्यन्तिक

प्रदेश, (६) बन्धक, (७) वेदक, (८) उपयोग, (९) चतुःस्थान, (१०) व्यंजन, (११) सम्यक्त्व, (१२) देशविरति, (१३) संयम, (१४) चारित्रमोहनीय की उपशमना, (१५) चारित्रमोहनीय की क्षपणा।

इस स्थान पर जयधवलाकार ने यह भी निर्देश किया है कि इसी तरह अन्य प्रकारों से भी पन्द्रह अर्थाधिकारों का प्ररूपण कर लेना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि कषायप्राभृत के अर्थाधिकारों की गणना में एकरूपता नहीं रही है।

कषायप्राभृत की टीकाएँ—इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार के उल्लेख के अनुसार कषायप्राभृत पर निम्नलिखित टीकाएँ लिखी गई हैं—

(१) आचार्य यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्र, (२) उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणावृत्ति अथवा मूल उच्चारणा, (३) आचार्य शामकुण्डकृत पद्धति टीका, (४) तुम्बुलुराचार्यकृत चूड़ामणि व्याख्या, (५) बप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति वृत्ति, (६) आचार्य वीरसेन जिनसेन कृत जयधवल टीका। इन छह टीकाओं में से प्रथम चूर्णि व जयधवला ये दो टीकाएँ वर्तमान में उपलब्ध होती हैं। यतिवृषभकृत चूर्णि छह हजार श्लोक प्रमाण तथा जयधवला टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण है।

गोम्मटसार

इसके दो भाग हैं—(१) जीवकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड। रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं, जो विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं। ये चामुण्डराय के समकालीन थे।

गोम्मटसार की रचना चामुण्डराय, जिनका कि दूसरा नाम गोम्मटराय था—के प्रश्न के अनुसार सिद्धान्त ग्रन्थों के सार रूप में हुई है, अतः इस ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार रखा गया। इसका एक नाम पंचसंग्रह भी है, क्योंकि इसमें बन्ध, बध्यमान, बन्धस्वामी, बन्धहेतु व बन्धभेद—इन पाँच विषयों का वर्णन है।

गोम्मटसार में १७०५ गाथाएँ हैं जिसमें से जीवकाण्ड में ७३३ और कर्मकाण्ड में ९७२ गाथाएँ हैं। जीवकाण्ड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड—इन पाँच विषयों

का विवेचन है। इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, १४ मार्गणा और उपयोग इन बीस अधिकारों में जीव की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

कर्मकाण्ड में कर्म सम्बन्धी निम्न नौ प्रकरण हैं—

(१) प्रकृतिसमुत्कीर्तन, (२) बन्धोदय सत्व, (३) सत्वस्थान भंग, (४) त्रिचूलिका, (५) स्थान समुत्कीर्तन, (६) प्रत्यय, (७) भाव चूलिका, (८) त्रिकरण चूलिका, (९) कर्मस्थितिरचना।

गोम्मटसार की टीकाएँ—गोम्मटसार पर सर्वप्रथम गोम्मटराय—चामुण्डराय ने कन्नड़ में वृत्ति लिखी, जिसका अवलोकन स्वयं नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने किया। इस वृत्ति के आधार पर केशववर्णी ने संस्कृत में टीका लिखी। फिर अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मन्दप्रबोधिनी नामक संस्कृत टीका लिखी। इन दोनों टीकाओं के आधार पर पं० टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामक हिन्दी टीका लिखी। इन टीकाओं के आधार पर जीवकाण्ड का हिन्दी अनुवाद श्री पं० खूबचन्द्रजी ने व कर्मकाण्ड का अनुवाद श्री पं० मनोहरलालजी ने किया है। श्री जे० एल० जैनी ने इसका अंग्रेजी में सुन्दर अनुवाद किया है।

लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित)

इसके रचयिता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। लब्धिसार में कर्म से मुक्त होने के उपाय का प्रतिपादन किया है। लब्धिसार की ६४९ गाथाएँ हैं, जिनमें २६१ गाथाएँ क्षपणासार की हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं—(१) दर्शनलब्धि, (२) चारित्रलब्धि, (३) क्षायिकचारित्र। इनमें क्षायिक चारित्र प्रकरण क्षपणासार के रूप में स्वतन्त्र ग्रंथ भी गिना जाता है।

लब्धिसार पर केशववर्णी ने संस्कृत में तथा पं० टोडरमल जी ने हिन्दी में टीका लिखी है। संस्कृत टीका चारित्र लब्धि प्रकरण तक ही है। हिन्दी टीकाकार टोडरमलजी ने चारित्रलब्धि प्रकरण तक तो संस्कृत टीका के अनुसार व्याख्यान किया है, किन्तु क्षायिक चारित्र प्रकरण, अर्थात् क्षपणासार का व्याख्यान माधवचन्द्र कृत संस्कृत गद्यात्मक क्षपणासार के अनुसार किया है।

यहाँ पर उल्लिखित ग्रंथों का पूर्णरूप से अध्ययन किया जाय तो कर्मसाहित्य का सर्वस्पर्शी ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

उक्त जानकारी के अनन्तर अभी तक मुद्रित ग्रन्थों के नाम, रचयिता, समय आदि का संक्षेप में संकेत कर देना उचित होगा। इन ग्रन्थों में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के कर्मग्रन्थों का उल्लेख किया गया है—

ग्रन्थनाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल
महाकर्मप्रकृति प्राभृत अथवा कर्मप्राभृत (षट्खंडशास्त्र)	पुष्पदन्त तथा भूतबलि	३६०००	अनुमानतः विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दि
धवला टीका	वीरसेन	७२०००	लगभग वि० सं० ९०५
कषायप्राभृत	गुणधर	गा० २३६	अनुमानतः विक्रम की तीसरी शताब्दि
चूर्णि	यतिवृषभ	६०००	अनुमानतः विक्रम की छठी शताब्दि
जयधवला टीका	वीरसेन तथा जिनसेन	६००००	विक्रम की नौवीं दशवीं शताब्दि
गोम्मटसार	नेमिचन्द्र—सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० १७०५	विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दि
संकृत टीका	केशववर्णी		
संस्कृत टीका	अभयचन्द्र		
हिन्दी टीका	टोडरमल्ल		विक्रम की १८ वीं शताब्दि
लब्धिसार (क्षपणसार गर्भित)	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० ६५०	विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दि
संस्कृत टीका	केशववर्णी	—	
हिन्दी टीका	टोडरमल्ल		विक्रम की १८ वीं शताब्दि
पंचसंग्रह (संस्कृत)	अमितगति	श्लो. १४५६	वि० सं० १०७३
पंचसंग्रह (प्राकृत)		गा० १३२४	
पंचसंग्रह (संस्कृत)	श्रीपाल सुतडड्ढ	श्लो. १२४३	वि० १७ की शताब्दि

ग्रन्थ-नाम	कर्ता	श्लोक प्रमाण	रचना काल
कर्मप्रकृति	शिवशर्मसूरि	गा० ४७५	संभवतः विक्रम की ५ वीं शताब्दि
चूर्णि		७०००	वि० की १२ वीं श० से पूर्व
वृत्ति	मलयगिरि	८०००	वि० १२-१३ श०
वृत्ति	यशोविजय	१३००	वि० १८ वीं श०
पंचसंग्रह	चन्द्रर्षि महत्तर	गा० ९६३	
स्वोपज्ञ वृत्ति	,,	९०००	
बृहद्वृत्ति	मलयगिरि	१८८५०	विक्रम की १२-१३ वीं शताब्दि
प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ		गा० ५४७, ५५१, ५६७	
(अ) कर्म विपाक	गर्गर्षि	गा० १६८	
वृत्ति	परमानन्दसूरि	९२२	वि० १२-१३ वीं शताब्दी
व्याख्या		१०००	
(आ) कर्मस्तव		गा० ५७	
भाष्य		गा० २४,	
भाष्य		गा० ३२	संभवतः वि० सं०
वृत्ति	गोविन्दाचार्य	१०९०	१२८८ से पूर्व
(इ) बन्ध-स्वामित्व (गा० ५०)			
वृत्ति	हरिभद्रसूरि	५६०	वि० सं० ११७२
(ई) षडशीति	जिनवल्लभगणि	गा० ८६	
भाष्य		गा० ३८	
वृत्ति	हरिभद्रसूरि	८५०	वि० की १२वीं शताब्दि
वृत्ति	मलयगिरि	२१४०	विक्रम की १२-१३ वीं शताब्दि

ग्रन्थ-नाम	कर्ता	श्लोक प्रमाण	रचनाकाल
(ख) शतक	शिवशर्मसूरि	गा० १११	
भाष्य		गा० २४	
बृहद् भाष्य	चक्रेश्वर सूरि	१४१३	वि० सं० ११७९
चूर्णि		२३२२	
(ङ) सप्ततिका	शिवशर्मसूरि अथवा चन्द्रर्षि महत्तर	७५	
भाष्य	अभयदेवसूरि	गा० १९१	विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दि
वृत्ति	मलयगिरि	३७८०	वि० की १२-१३ वीं श०
भाष्यवृत्ति	मेरुतुंगसूरि	४१५०	वि० सं० १४४९
सार्ध शतक	जिनवल्लभ गणि	गा० १५५	वि० १२ वीं शताब्दि
वृत्ति	धनेश्वर सूरि	३७००	वि० सं० ११७१
नवीन पंच कर्मग्रन्थ	देवेन्द्रसूरि	गा० ३०४	वि० की १३-१४-वीं श०
स्वोपज्ञ टीका (बन्धस्वामित्व को छोड़कर)		१०१३१	वि० की १३-१४ वीं शताब्दि
बन्धस्वामित्व-अवचूरि		४२६	
षट् कर्मग्रन्थ बालावबोध	जयसोम	१७०००	वि० की १७ वीं शता०
भावप्रकरण	विजयविमल गणि	गा० ३०	वि० सं० १६२३
स्वोपज्ञ वृत्ति	,,	३२५	,,
बन्धहेतूदयत्रिभंगी	हर्षकुलगणि	गा० ६५	वि० १६ वीं श०
वृत्ति	वानरर्षि गणि	११५०	वि० सं० १६०२
बन्धोदयसत्ताप्रकरण	विजयविमल गणि	गा० २४	वि० १७ वीं श० का प्रारम्भ
स्वोपज्ञ अवचूरि	,,	३००	
कर्मसंवेद्यभंग प्रकरण	देवचन्द्र	४००	
संक्रमकरण	प्रेमविजयगणि		वि० सं० १९८५

इस प्रकरण के लेखन में जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४ (पा० वि० शो० सं० वाराणसी) का आधार लिया गया है।

कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथाएँ

सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ॥१॥

पगइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता।
मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगई अडवन्नसय भेयं ॥२॥

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउ नामगोयाणि।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ॥३॥

मइ-सुय-ओही-मण-केवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं।
वंजणवग्गह चउहा मणनयणविणिंदिय चउक्का ॥४॥

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ॥५॥

अक्खर सन्नी सम्मं साइयं खलु सपज्जवसियं च।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥६॥

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो।
पाहुडपाहुड पाहुडवत्थू पुव्वा य स-समासा ॥७॥

अणुगामि वड्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही।
रिउमइ विउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ॥८॥

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ॥९॥

चक्खुदिट्ठि अचक्खू सेसिंदिय ओहि केवलेहिं च।
दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा ॥१०॥

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओवविट्ठस पयलपयला य चंकमओ ॥११॥

दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी अद्धचक्कि अद्धबला।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ॥१२॥

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ॥१३॥

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ॥१४॥

जियअजिय पुण्णपावासव संवरबन्धमुक्खनिज्जरणा।
जेणं सद्दहइयं तयं सम्मं खइगाइबहुभेयं ॥१५॥

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहु जहा अन्ने।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ॥१६॥

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविहं चरित्तमोहणियं।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१७॥

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ॥१८॥

जलरेणु पुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥ १९ ॥

मायावलेहिगोमुत्तिमिंढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥ २० ॥

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥

पुरिसित्थि तदुभय पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ ।
थीनरनपुवेउदयो फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥२२॥

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं ।
बायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

गइजाइतणुउवंगा बन्धणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवण्णगन्धरसफास अणुपुव्वि विहगगई ॥२४॥

पिंडपयडित्ति चउदस, परघा उस्सास आयवुज्जोयं ।
अगुरुलहुतित्थनिमणोवघायमिय अट्ठपत्तेया ॥२५॥

तस बायर पज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च ।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥

थावर सुहुम अपज्जं साहारण अथिर असुभ दुभगाणि ।
दुस्सरणाइज्जाजसमिय नामे सेयरा वीसं ॥२७॥

तसचउ थिरछक्कं अथिरछक्क सुहुमतिग थावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहि पयडीहिं ॥२८॥

वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्कमिच्चाई ।
इय अन्नावि विभासा तयाइ संखाहि पयडीहिं ॥२९॥

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपंचछछक्कं ।
पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥३०॥

अडवीसजुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचउ ॥३१॥

इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे ।
बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसअट्ठवन्नसयं ॥३२॥

निरयतिरिनरसुरगई इगबियतियचउपणिंदिजाइओ ।
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पणसरीरा ॥३३॥

बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा ।
सेसा अंगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥

उरलाइपुग्गलाणं निबद्धबज्झंतयाण संबन्धं ।
जं कुणइ जउसमं तं उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

जं संघायइ उरलाइ पुग्गले तणगणं व दंताली ।
तं संघायं बंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

संघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनारायं ।
तह य रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥३८॥

कीलिअ छेवट्ठं इह रिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडबंधो नारायं इममुरालंगे ॥३९॥

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं ।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसाय अंबिला महुरा ।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४१॥

नीलं कसिणं दुगंधं तित्तं कडुय गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥

चउह गइव्वणुपुव्वी गइपुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई ॥४३॥

परघाउदया पाणी परेसिं बलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥४४॥

रविबिंबे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं लोहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥

अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइव्व ॥४६॥

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

अंगोवंगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलंबिगाईहिं ॥४८॥

बितिचउपणिंदिय तसा बायरओ बायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४९॥

पत्तेय तणू पत्ते उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं ।
नामुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

सुसरा महुरसुहझुणी आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५१॥

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाभे भोगुवभोगेसु वीरिए य ॥५२॥

सिरिहरियसमं जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईयं एवं विग्घेण जीवो वि ॥५३॥

पडिणीयत्तण निन्हव उवघाय पओस अंतराएणं ।
अच्चासायणयाए आवरण दुगं जिओ जयइ ॥५४॥

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ॥५५॥

उम्मग्गदेसणामग्गनासणा देवदव्वहरणेहिं ।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइय संघाइ पडिणीओ ॥५६॥

दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइ विसय विवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ॥५७॥

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ ।
पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ॥५८॥

अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ॥५९॥

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणज्झावणारुई निच्चं ।
पकुणइ जिणाइ भत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ॥६०॥

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविन्दसूरिहिं ॥६१॥

॥ प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथाएं समाप्त ॥

द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथाएँ

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं।
बन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥२॥

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस-सयं।
तित्थयराहारग-दुगवज्जं मिच्छंमि सतर-सयं ॥३॥

नरयतिग जाइथावरचउ, हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥४॥

अणमज्झागिइसंघयणचउ, निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउयअबन्धा ॥५॥

सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि, वइर नरतिग बियकसाया।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥६॥

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥७॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते सुराउबंधं तु जइ इहागच्छे।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारगदुगं बन्धे ॥८॥

अडवन्न अपुव्वाइमि निद्ददुगंतो छपन्न पणभागे।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥९॥

समचउर निमिण जिण वण्णअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।
चरमे छवीसबंधो हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

अनियट्टि भागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबन्धो।
पुमसंजलणचउण्ह, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥११॥

चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ।
तिसु सायबन्ध छेओ सजोगि बन्धंतुणंतो अ ॥१२॥

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं।
सतरसयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणऽणुदया ॥१३॥

सुहुम-तिगायव-मिच्छं मिच्छंतं सासणे इगारसयं।
निरयाणुपुव्विणुदया अण-थावर-इगविगलअंतो ॥१४॥

मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बिय-कसाया ॥१५॥

मणुतिरिणुपुव्वि विउवट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ।
सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया ॥१६॥

अट्ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा।
थीणतिगाहारगदुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥

सम्मत्तंतिमसंघयणतियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ॥१८॥

संजलणतिग छच्छेओ सट्ठि सुहुमंमि तुरियलोभंतो।
उवसंतगुणे गुणसट्ठि रिसहनारायदुगअंतो ॥१९॥

समयाय खीण दुचरमि निदृदुगंतो य चरमि पणपन्ना ।
नाणंतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि बायाला ॥२०॥

तिथुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्ततिग छ संठाणा ।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥२१॥

दूसर सूसर सायासाएगयरं च तीस वुच्छेओ ।
बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥२२॥

तसतिग पणिंदि मणुयाउगइ जिणुच्चं ति चरमसमयंता ।
उदउव्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥२३॥

एसा पयडि—तिगूणा वेयणियाऽहारजुगल थीण तिगं ।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥२४॥

सत्ता कम्माण ठिई बंधाई-लद्ध अत्त-लाभाणं ।
संते अडयालसयं जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥२५॥

अपुव्वाइचउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु बियालसयं ।
सम्माइ चउसु सत्तग-खयंमि इगचत्त-सयमहवा ॥२६॥

खवगं तु पप्प चउसु वि पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा ।
सत्तग विणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥२७॥

थावर तिरि निरयायव दुग थीणतिगेग विगल साहारम् ।
सोलखओ दुवीससयं बियंसि बियतियकसायंतो ॥२८॥

तइयाइसु चउदसतेरबार छपण चउतिहियसय कमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥२९॥

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ ।
नवनवइ चरम समए चउ दंसणनाण विग्घन्तो ॥३०॥

पणसीइ सयोग अजोगि दुचरिमे देवखगइ गंधदुगं।
फासट्ठ वन्नरस तणु बन्धण संघायपण निमिणं ॥३१॥

संघयणअथिरसंठाणं छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं।
सायं व असायं वा परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥३२॥

बिसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं।
सुभगजिणुच्चपणिंदिय सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

नरअणुपुव्वि विणा वा बारस चरिम समयंमि जो खविउं।
पत्तो सिद्धिं देविन्दवंदियं नमह तं वीरं ॥३४॥

॥ द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथाएँ समाप्त ॥

तृतीय कर्मग्रन्थ की गाथाएँ

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं।
गइयाईसुं वुच्छं समासओ बंधसामित्तं ॥१॥

जिण सुरविउवाहारदु देवाउ य नरयसुहुमविगलतिग।
एगिंदि थावरायव नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥२॥

अण मज्झागिइ संघयण कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिग।
उज्जोयतिरि दुगं तिरि नराउ नर उरलदुगरिसहं ॥३॥

सुरइगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण बंधहिं निरया।
तित्थ विणा मिच्छि सय सासणि नपुचउ विणा छनुई ॥४॥

विणु अणछवीस मीसे बिसयरि सम्मम्मि जिणनराउ जुआ।
इय रयणाइसु भंगो पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥५॥

अजिणमणुआउ ओहे सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
इगनवई सासणे तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥६॥

अणचउवीसविरहिया सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे।
सतरसउ ओहि मिच्छे पजतिरिया विणु जिणाहारं ॥७॥

विणु नरयसोल सासणि सुराउ अण एगतीस विणु मीसे।
ससुराउ सयरि सम्मे बीयकसाए विणा देसे ॥८॥

इय चउगुणेसु वि नरा परमजया सजिण ओहु देसाई।
जिणइक्कारसहीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥९॥

निरय व्व सुरा नवरं ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया।
कप्पदुगे वि य एवं जिणहीणो जोइभवणवणे ॥१०॥

रयण व्व सणंकुमाराई आणयाई उजोयचउरहिया।
अपजतिरिय व्व नवसयमिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥११॥

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं।
तिरियनराऊहिं विणा तणुपज्जत्ति न ते जंति ॥१२॥

ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा।
मणवयजोगे ओहो उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥१३॥

आहारछग विणोहे चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं।
सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ सुहुमतेर ॥१४॥

अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं।
विणु तिरिनराउ कम्मे वि एवमाहारदुगि ओहो ॥१५॥

सुरओहो वेउव्वे तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से।
वेयतिगाइम बिय तिय कसाय नव दु चउ पंच गुणा ॥१६॥

संजलणतिगे नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खु चक्खुसु पढमा अहखाइ चरमचउ ॥१७॥

मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलिदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥१८॥

अड उवसमि चउ वेयगि खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमि सठाणं तेरस आहारगि नियनियगुणोहो ॥१९॥

परमुवसमि वट्टंता आउ न बंधंति तेण अजयगुणे।
देवमणुआउहीणो देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥२०॥

ओहे अट्ठारसयं आहारदुगूण आइलेसतिगे।
तं तित्थोणं मिच्छे साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥२१॥

तेऊ नरयनवूणा उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का।
विणु नरयबार पम्हा अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥२२॥

सव्वगुणभव्वसन्निसु ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मभंगो अणाहारे ॥२३॥

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा चउ सग तेर त्ति बंधसामित्तं।
देविन्दसूरिलिहियं नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥२४॥

॥ तृतीय कर्मग्रन्थ की गाथायें समाप्त ॥

कर्मग्रन्थ—भाग एक से तीन तक का

संक्षिप्त शब्द-कोष

अंग—शरीर, शरीर का अवयव ।

अंगपविट्ठ—अंगप्रविष्ट आचारांग आदि १२ आगम

अंगोवंग—अंग, उपांग, शरीर की रेखा, पर्व आदि

अंतमुहु (त्त)—अन्तर्मुहूर्त (एक समय कम ४८ मिनट)

अंतराअ—अन्तराय, विघ्न, रुकावट

अकामनिज्जर—अकामनिर्जर (बिना इच्छा के कष्ट सहन कर कर्म-निर्जरा करने वाला)

अगारविल्ल—निरभिमान

अगुरुलहु—अगुरुलघु नामकर्म

अगुरुलहुचउ—अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नामकर्म

अचक्खु—अचक्षुदर्शन

अच्चासायणया—अवहेलना, उपेक्षा, आशातना

अजय—अयत—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव

अजयगुण—अयत गुणस्थान

अजयाइ—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि

अजस—अयशःकीर्ति नामकर्म

अजिय—अजीव

अजिणाहार—अजिनाहारक—जिननामकर्म तथा आहारक-द्विक रहित

अजिण मणुआउ—अजिन मनुष्यायुष्—तीर्थंकर नामकर्म तथा मनुष्यायु छोड़कर

अट्ठि—अस्थि, हड्डी

अट्ठवन्न—अट्ठावन (५८)

अट्ठारसय—अष्टादशशत (११८)

अट्ठवण्णा—अट्ठावन (५८)

अड—अष्ट—आठ

अडयालसय—एकसौ अड़तालीस (१४८)

अडवन्न—अट्ठावन (५८)

अडवीस—अट्ठाईस (२८)

अण—अनन्तानुबन्धी कषाय

अणएकतीस—अनैकत्रिंशत्-अनन्तानुबन्धी आदि ३१ प्रकृतियाँ

अण चउवीस—अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ

अणछवीस—अनषड्विंशति—अनन्तानुबन्धी आदि २६ प्रकृतियाँ

अणाइज्ज—अनादेय नामकर्म

अणाहार—अनाहारक मार्गणा

अणुपुव्वी—आनुपूर्वी नामकर्म

अणुसिण—अनुष्ण (शीतल)

अत्थुग्गह—अर्थावग्रह

अथिर—अस्थिर नामकर्म

अथिरछक्क—अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नामकर्म की छह प्रकृतियाँ

अद्ध—आधा भाग

अद्धनाराय—अर्धनाराच संहनन

अन्नह—अन्यथा

अनाणतिग—अज्ञानत्रिक-मति आदि तीन अज्ञान

अनियट्टि—अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान

अपच्चक्खाण—अप्रत्याख्यानावरण कषाय

अपज्ज—अपर्याप्त नामकर्म ; अपर्याप्त जीव

अपत्ति—समय प्राप्त न होने पर

अपमत्त—अप्रमत्तविरत गुणस्थान

अयोगि—अयोगिकेवली गुणस्थान

अरइ—अरति मोहनीय

अवलेहि—बांस का छिलका

अवाय—मतिज्ञान का अपाय नामक भेद

अविरय—अविरत सम्यग्दृष्टि ; अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

असंनि—असंज्ञी

असाय—असातावेदनीय

असुभ—(असुह)—अशुभ नामकर्म

असुहनवग—कृष्ण, नील वर्ण, दुर्गन्ध, तिक्त, कटु रस, गुरु, खर, रूक्ष, शीत स्पर्श, यह नौ प्रकृतियाँ अशुभनवक कहलाती हैं।

अहक्खाय चरित्त—यथाख्यात चारित्र

आइ—आदि, पहला, प्रथम

आइज्ज—आदेय नामकर्म

आइलेसतिग—आदि लेश्यात्रिक—कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ

आउ—आयुकर्म

आणयाइ—आनत आदि देवलोक

आयव—आतप नामकर्म

आवरणदुग—आवरणद्विक (ज्ञानावरण, दर्शनावरण)

आसव—आस्रव तत्त्व

आहारग(आहारय)—आहारक शरीर नामकर्म ; आहारक शरीर

आहारदु—आहारकद्विक नामकर्म

आहार-दुग—आहारक तथा आहारक मिश्रयोग अथवा आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग

आहार-छग—आहारक-षट्क, आहारक आदि छह प्रकृतियाँ

इगचत्त—इकतालीस (४१)

इगनवइ—एकनवति—इक्यानवें (९१)

इगसउ—एक सौ एक (१०१)

इगसी—इक्यासी (८१)

इगहिय सय—(एकाधिकशतं) एक सौ एक (१०१)

इगिंदि (एगिंदि)—एकेन्द्रिय जाति

इगिंदि-तिग—एकेन्द्रिय-त्रिक—एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियाँ

इन्दिय चउक्क—स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र यह चार इन्द्रियाँ

इत्थी—स्त्री, स्त्रीवेद नामकर्म

उच्च—उच्चगोत्र

उज्जोअ—उद्योत नामकर्म

उज्जोअ-चउ—उद्योत आदि चार प्रकृतियाँ

उज्जोया—उद्योत नामकर्म

उण्ह—उष्ण स्पर्श नामकर्म

उम्मग्ग—शास्त्रविरुद्ध-स्वच्छन्द

उयर—पेट

उर—छाती, वक्षस्थल

उरल—औदारिक—स्थूल, औदारिक काययोग

उरल-दुग—औदारिकद्विक नामकर्म

उरालंग—औदारिक शरीर

उवंग—उपांग; अंगुली आदि शरीर के अंग

उवघाय—उपघात नामकर्म, नाश

उवसम—औपशमिक सम्यक्त्व । उपशान्तमोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

उस्सास—उच्छ्वास नामकर्म

उसिणफास—उष्ण स्पर्श नामकर्म

ऊरू—जंघा

ऊससणलद्धि—श्वासोच्छ्वास की शक्ति

ऊसासनाम—उच्छ्वास नामकर्म

एगयर—किसी एक का

ओराल—औदारिक शरीर नामकर्म ; औदारिक शरीर

ओह—ओघ—सामान्य

ओहि—अवधिदर्शन ; अवधिज्ञान

ओहि-दुग—अवधि-द्विक

ओहेण—सामान्य रूप से

कडु—कटुक रस नामकर्म

कप्पदुग—कल्प-द्विक—१-२ देवलोक

कम्म-(कम्मण)—कार्मण काययोग

करण—इन्द्रिय

कसाय—कषाय मोहनीय कर्म, कषायरस नामकर्म

कसिण—कृष्णवर्ण नामकर्म

किण्ह—कृष्ण वर्ण नामकर्म

कीलिया—कीलिका संहनन नामकर्म ; कीला

कुखग—अशुभ विहायोगति नामकर्म

कुच्छा—घृणा

केवल-जुग (केवल)—केवलज्ञान, केवलदर्शन

केवलि—[illegible]

कोह—क्रोध कषाय

खीण—क्षीणमोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

खंति—क्षमा

खंधा—मिलाने से

खइअ—क्षायिक सम्यक्त्व

खओ—क्षय होने से

खइग—क्षायिक

खग्ग—तलवार

खर—खर स्पर्श नामकर्म

खुज्ज—कुब्जसंस्थान

गइ—गति नामकर्म

गइतस—गतित्रस—तैजस्काय, वायुकाय

गमिय—गमिकश्रुत

गुण—गुणस्थान

गुणसट्ठि—उनसठ (५९)

गुरु—गुरु स्पर्श नामकर्म ; अथवा वजनदार, भारी

गूढहियय—कपटी

गोय—गोत्र कर्म

चउनवइ—चौरानवें (९४)

चउव्विहो—चार प्रकार का

चउसयरि—चौहत्तर (७४)

चउहा—चार प्रकार का

चक्खु—चक्षुदर्शन अथवा आँख

चरणमोह—चारित्र मोहनीय कर्म

चरित्त मोहणिय—चारित्र मोहनीय

छक्क—छह (६) का समूह

छक्खओ—छह का क्षय होने से

छद्धा—छह प्रकार का

छनुइ (छनवइ)—छण्णवति—छियानवें (९६)

छपन्न—छप्पन (५६)

छलंसि—छठे भाग में

छसट्ठि—छियासठ (६६)

छस्सयरि—छियत्तर (७६)

छहा—छह प्रकार का

छेअ—छेदोपस्थानीय चारित्र

छेवट्ठ—सेवार्तसंहनन

जइ—साधु

जउ—लाख

जयाइ—प्रमत्तसंयत आदि गुणस्थान

जस—यशःकीर्ति नामकर्म

जाइ—जाति नामकर्म

जिअ—आत्मा

जिण-पणग—जिन आदि पांच प्रकृतियां

जिण-इक्कारस (जिणिक्कार)—जिन आदि ग्यारह प्रकृतियां

जिय—जीव तत्त्व

जीय—जीव

जीव—आत्मा

जुअ—युत—सहित

जोइ—ज्योतिषीदेव

जोइस—चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष्क मंडल

जोग—संयम

जोगि—सयोगि केवली

ठिइ—स्थिति, स्थितिबन्ध

णुदया—उदय न होने से

तइयाइसु—तीसरे आदि भागों में

तणु—शरीर अथवा शरीर नामकर्म

तणुतिग—तीन शरीर

तणुपज्जत्ति—शरीर पर्याप्ति

तम्मिस्स—तन्मिश्र—तद् मिश्र काययोग (अमुक काययोग के साथ अमुक का मिश्र)

तरु—वनस्पतिकाय

तस—त्रस नामकर्म

तसचउ—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक—नामकर्म की चार प्रकृतियां

तसदसग—नामकर्म की त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति ये १० प्रकृतियाँ।

ति—तीन (३)

तिग—तीन का समूह

तिचित्तसमा—तीस

तित्त—तिक्त रस नामकर्म

तित्थ (तित्थयर)—तीर्थंकर नामकर्म

तिन्नि—तीन

तिय कसाय—तीसरा कषाय—प्रत्याख्यानावरण कषाय

तिरि—तिर्यंच

तिरिदुग—तिर्यंच-द्विक

तिरिनराउ (तिरियनराउ)—तिर्यंच आयु तथा मनुष्य आयु

तिरियत्त—[illegible]

तेअ—तैजसकाय अथवा तेजोलेश्या

तेय—तैजस शरीर

थावर—स्थावर

थावरचउक्क—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, यह चार प्रकृतियाँ

थावरदस—स्थावर आदि दस प्रकृतियाँ

थिर—स्थिर नामकर्म

थिरछक्क—स्थिर आदि छह प्रकृतियाँ

थी—स्त्री

थीणतिग—स्त्यानर्द्धित्रिक (प्रचला, प्रचला-प्रचला एवं स्त्यानर्द्धि-निद्रा के तीन भेद)

थीणद्धी—स्त्यानर्द्धि नामक निद्रा विशेष

दंसण—यथार्थ श्रद्धा

दंसण चउ—दर्शनावरण चतुष्क (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवल-दर्शन का आवरण)

दंसण मोह—दर्शन मोहनीय

दंसणावरण—दर्शनावरण कर्म

दुग (दु)—दो (२)

दुगंध—दुरभिगन्ध नामकर्म

दुभग—दुर्भग नामकर्म

दुरहि—दुरभिगंध नामकर्म

दुस्सर—दुःस्वर नामकर्म

दुहग—दुर्भग नामकर्म

दूसर—दुःस्वर नामकर्म

देवमणुआउ—देव आयु तथा मनुष्यायु

देस—देशविरति गुणस्थान

देसाइ—देशविरति आदि गुणस्थान

नपु—नपुंसकवेद

नपुं चउ—(नपुंसचउ)—नपुंसकचतुष्क

नर—मनुष्यगति, पुरुष

नरअ—अधोलोक

नरय—नरक, नरकगति

नरयनव—नरकगति आदि नौ प्रकृतियां

नरय बार—नरकगति आदि बारह प्रकृतियां

नरय सोल—नरकगति आदि १६ प्रकृतियां

नरयाउ—नरक-आयु

नराउ—मनुष्य आयु

नरयाइ—[illegible] (६८)

नाण—ज्ञान

नाम—नामकर्म

नाराय—नाराच संहनन। दोनों ओर मर्कट बन्ध रूप अस्थि रचना

निग्गोह—न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान

निचय—रचना

निउज्जोय—नीचगोत्र; उद्योतनाम

निण्हव—छिपाना, अपलाप करना

निम्माण (निमिण)—निर्माण नामकर्म

निय (नीय)—अपना अथवा नीचगोत्र

नियट्टि—निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान

निरय—नरक, नारक (नरक के जीव)

नेय—जानने योग्य

नोकसाय—नोकषाय मोहनीय

पंकाइ—पंकप्रभा आदि नरक

पइ—तरफ, ओर

पएस—प्रदेशबन्ध

पओस—अप्रीति (प्रद्वेष)

पच्चक्खाण—प्रत्याख्यानावरण कषाय

पज्जत्त—पर्याप्त नामकर्म

पज्जत्ति—पर्याप्ति (पुद्गलोपचय-जन्य शक्तिविशेष)

पज्जय—पर्याय, पर्यायश्रुत

पट्ट—वेठन

पड—पट्टी

पडिणीयत्तण—शत्रुता

पडिवत्ति—प्रतिपत्ति श्रुत

पडिवाइ—प्रतिपाति अवधिज्ञान

पणयाल—पैंतालीस (४५)

पणवन्ना—पचपन (५५)

पणसीइ—पचासी (८५)

पणिंदि—पंचेन्द्रिय

पत्तेय—प्रत्येक नामकर्म ; अवान्तर भेदरहित प्रकृति

पत्तेय तणु—प्रत्येक तनु (जिसका स्वामी एक जीव है, वैसा शरीर)

पप्प—प्राप्त करके

पमत्त—प्रमत्तविरत गुणस्थान

पम्हा—पद्मलेश्या

पय—पदश्रुत

पयइ—स्वभाव ; प्रकृतिबन्ध

पयडि—कर्मप्रकृति

परघाय—पराघात नामकर्म

परित्त—प्रत्येक नामकर्म

परिहार—परिहारविशुद्धि चारित्र

पाणि—जीव

पाहुड—प्राभृत श्रुत

पिंडपयडि—पिण्ड प्रकृति (अवान्तर भेद वाली प्रकृति)

पुम—पुरुषवेद

फुंफुमा—कण्डे की आग

फास—स्पर्श नामकर्म

बंध—बन्धतत्त्व, बंधप्रकरण

बंधण—बन्धन नामकर्म

बन्ध-विहाण—बन्ध करना

बज्झंतय—वर्तमान में बंधने वाला

बायर—बादर नामकर्म ; स्थूल

बायाल—बयालीस (४२)

बिय (बि)—दो (२)

बियाल सयं—एक सौ बयालीस (१४२)

बिसयरि (बिसत्तरि)—द्विसप्तति—बहत्तर (७२)

बीअ कसाय—दूसरा कषाय—अप्रत्याख्यानावरण कषाय

भवण—भवनपतिदेव

भूंखल—मद्यपाश

मइ—मतिज्ञान

मइ-सुअ—मति एवं श्रुतज्ञान

मक्कड बन्ध—मर्कट के समान बन्ध

मज्झागिइ—मध्याकृति—बीच के संस्थान

मण—मन, मनःपर्यायज्ञान

मणनाण—मनःपर्यायज्ञान

मण वयजोग—मन-योग तथा वचनयोग

मणु (मणुअ)—मनुष्य, मनुज

महुर—मधुर रस नामकर्म, मीठा

माणस—मन

मिउ—मृदुस्पर्श नामकर्म

मिढ—मेंढ़

मिच्छ (मिच्छे)—मिथ्यात्व मोहनीय अथवा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

मिच्छत्त—मिथ्यात्व मोहनीय

मिच्छतिग—मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थान

मिच्छ-सम—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के तुल्य

मिच्छा—मिथ्यात्व मोहनीय

मीस (मीसय, मीसे)—मिश्र मोहनीय, मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थान

मीस-दुग—मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

मुरव—गोल

मूलपगइ—मुख्यप्रकृति

रत्त—आसक्त

रइ—प्रेम, अनुराग, रति नामकर्म

रयणाइ (रयण)—रत्नप्रभा आदि नरक

राई—रेखा, लकीर

रिउमइ—ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान

रिसह—ऋषभ (पट्ट वेठन) अथवा ऋषभनाराच संहनन

रिसहनाराय—ऋषभनाराच संहनन

रुक्ख—रूक्षस्पर्शनामकर्म

लंबिगा—पड़जीभ

लहुय—हलका

लिहिअ—लिखा हुआ

लिहण—चाटना

लोह—लोभ, ममता

लोहिय—लोहितवर्ण नामकर्म

वंसिमूल— बाँस की जड़ (मायाकषाय के एक भेद की उपमा)

वइर—वज्रऋषभ नाराच संहनन

वज्ज—कीलक

वज्जं—छोड़कर

वज्जरिसहनाराय—वज्रऋषभ नाराच संहनन

वंजणुग्गह—व्यंजनावग्रह; मतिज्ञान

वट्टंत—वर्तमान

वड्ढमाणय—वर्धमान (अवधिज्ञान का भेद विशेष)

वण—वाणव्यन्तर देव

वण्ण—वर्ण नामकर्म

वन्न—वर्ण नामकर्म

वस—बैल ; अधीनता

वामण—वामन संस्थान

विउव्व (वेउव्व)—वैक्रिय शरीर नामकर्म तथा वैक्रिय काययोग

विउवट्ठ—वैक्रिय अष्टक (वैक्रिय शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ)

विग्घ—विघ्न, अन्तराय कर्म

विगल—विकलेन्द्रिय

विगलतिग—विकलत्रिक

विणु—छोड़कर

वित्ति—दरवान

विभासा—परिभाषा-संकेत

विमलमइ—विमलमति मनःपर्यायज्ञान

विवज्जत्थ—(विवज्जय-विपरीय) विपरीत, उल्टा

विवाग—विपाक, फल (प्रभाव, असर)

विहगगइ—विहायोगति नामकर्म

वुच्छेओ—क्षय होने से

वेअ—वेदमोहनीय

वेअ-लिंग—स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद

वेय—वेदनीय कर्म

वेयण—भोगना, अनुभव करना

वेयणिय—वेदनीय कर्म

संघयण—संहनन नामकर्म ; हड्डी की रचना

संघाय—संघात श्रुतज्ञान ; संघात नामकर्म

संघायण—संघात नामकर्म

संजलण—संज्वलन कषाय

संजलणतिग—संज्वलन क्रोध, मान, माया

संठाण—संस्थान नामकर्म

संत—सत्ता

संनि—संज्ञी (मनवाला), संज्ञीमार्गणा

संम—अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान

सग—अपना

सगवन्न—सत्तावन (५७)

सगसयरि—सतहत्तर (७७)

सगसीइ—सतासी (८७)

स-ठाण—स्व-अपना गुणस्थान

सणकुमाराइ—सनत्कुमारादि देवलोक

सतणु—अपना शरीर

सत्तग—सात प्रकृतियों का समूह

सतर—सत्रह (१७)

सतरसउ—सप्तदशशत—एक सौ सत्रह (११७)
सपज्जवसिय—अन्तसहित
सपडिवक्ख—विरोधी सहित
समइय—सामायिक चारित्र
समचउर—(समचतुरंस)—समचतुरस्र संस्थान
सम्म—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्व मोहनीय
समास—संक्षेप
सयरि—सत्तर (७०)
सयोगि—सयोगिकेवली गुणस्थान
सव्वविरई—सर्वविरति चारित्र
ससल्ल—माया आदि शल्य सहित
सहिय—सहित
साइ—सादि संस्थान
साइय—आदि सहित
सागार—निराकार
साय—सातावेदनीय (सुख)
सायासायएगयरं—साता असाता में से कोई एक
सासण (सासाण)—सास्वादन गुणस्थान
साहारण—साधारण नाम कर्म
सिणिद्ध—स्निग्धस्पर्श नामकर्म
सिय—सित नामकर्म (सफेद, श्वेत)
सीअ (सीय)—शीतस्पर्श नामकर्म
सुक्क—शुक्ललेश्या
सुखगइ—शुभ विहायोगति

सुभ—सुन्दर, अच्छा, शुभ नामकर्म

सुभग—सुभग नामकर्म

सुय—श्रुतज्ञान

सुरइगुणवीस—सुरैकोनविंशति—देवगति आदि १६ प्रकृतियाँ

सुरहि—सुरभिगंध नामकर्म

सुराउ—देवायु

सुसर—सुस्वर नामकर्म

सुह—शुभ नामकर्म, सुखप्रद, सुख

सुहुम—सूक्ष्म नामकर्म; सूक्ष्मसंपराय चारित्र ; सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान

सुहुमतिग—सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नामकर्म)

सुहुमतेर—सूक्ष्म नामकर्म आदि तेरह प्रकृतियां

सूसर—सुस्वर नामकर्म

सेयर—स-इतर—स-प्रतिपक्ष

सेलथंभो—पत्थर का खम्भा (मान कषाय के एक भेद की उपमा)

हडि—बेड़ी

हलिद्द—हारिद्र नामकर्म

हवइ—है, होता है

हवेइ—होता है

हास—हँसी

हास्य—हास्य मोहनीय

हुंड—हुंडसंस्थान

हेउ—हेतु, कारण

होइ—होता है

तृतीय ग्रन्थ समाप्त